

बौद्ध और जैनदर्शन के विविध आयाम



डॉ. निरंजना श्वेतकेतु वोरा

बौद्ध और जैनदर्शन के विविध आयाम

(संशोधन -लेखों का संकलन)



डॉ. निरंजना श्वेतकेतु वीरा

बौद्ध और जैनदर्शन के विविध आयाम

(संशोधन -लेखों का संकलन)

डॉ. निरंजना श्वेतकेतु वीरा

Bauddha Aur Jaindarshan Ke Vividh Aayam
by Niranjana Vora

© निरंजना वोरा

प्रकाशक : .

निरंजना वोरा

६९-बी, स्वस्तिक सोसायटी,
नवरंगपुरा, अहमदाबाद-३८०००९

प्रथम आवृत्ति : मार्च २०१०

नकल : ५००

मूल्य : १२०

मुद्रक :

क्रिष्णा ग्राफिक्स

नारणपुरा जूना गाँव, नारणपुरा,

अहमदाबाद-३८००१३

दूरभाष : ०७९-२७४९४३९३

हिन्दी साहित्य अकादमी, गांधीनगर की आर्थिक सहाय से प्रकाशित

निवेदन

असीम शक्ति प्राप्त करके भी आज मनुष्य अशान्त है, दुःखी है और भयाक्रान्त है। उसके आसपास का विश्व सोने-चाँदी से मठा हुआ है। भौतिक विज्ञानने भी असीम सुविधायें प्रदान की है। भौतिक विद्या के क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने अणुका विखण्डन करके अद्भुत सिद्धियाँ हाँसिल की है। फिर भी मन की दुर्भावनायें, भय, आशंका, लालसा, तनाव, चिन्ता इन सबसे मनुष्य आज पीड़ित है। इस लिए शक्ति की खोज छोड़कर वह शान्ति की खोज करना चाहता है। विज्ञान शक्ति की खोज करता है, धर्म-दर्शन और आध्यात्म शान्ति की और अग्रेसर करते हैं।

अतः आज मनुष्य ध्यान-चित्तन और दर्शन के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये मंथन कर रहा है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, मैत्री, करुणा, अनासक्ति आदि का उपदेश देने वाले प्रायः सभी धर्म-दर्शन मनुष्य के जीवन में ज्ञान, समता और समन्वय की रश्मियाँ से आलोक फैलाते हैं। लेकिन बौद्ध और जैन दर्शन के विषय में मुझे विशेष अभ्यास करने का मौका मिला - इसके परिणाम-स्वरूप, जो संशोधन-लेख समय समय पर लिखे गये हैं, उनका संकलन यहाँ किया है।

बौद्ध और जैन दर्शन की आचार और विचार की पद्धति स्वस्थ जीवन जीने की पद्धति है। उसका अंशतः परिचय भी विद्यार्थियों और अभ्यासियों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है, ऐसे विचार से प्रेरित होकर उनके प्रकाशन के लिये प्रवृत्त हुई हूँ।

निरंजना वोरा

अनुक्रमणिका

बौद्ध धर्मशासन और पर्यावरण संरक्षण	१
बौद्धधर्म में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त	१२
बौद्ध तत्त्वदर्शन और प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत	१९
बौद्ध तत्त्वमीमांसा : हीनयान संप्रदाय के अनुलक्ष्य में	२७
विशुद्धिमगग : बौद्ध धर्म का विश्वकोश	३७
गुजराती साहित्य में बौद्धदर्शन का प्रभाव	४१
नारीवादी आंदोलन और भारत में महिलाओं की स्थिति	४७
धर्म और विज्ञान का समन्वय	५३
जैन आचारसंहिता और पर्यावरणशुद्धि	६१
जैन और बौद्ध धर्म में अहिंसा का निरूपण:	
तुलनात्मक दृष्टि से	७०
भगवान महावीर और समाजवाद	७८
प्राकृत भाषासाहित्य में मनोवैज्ञानिक निरूपण	८२
प्राकृत भाषा साहित्य में	
निरूपित शांतिमय सहजीवन की संकल्पना	९२
श्री वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित का	
साहित्यिक मूल्यांकन	९७
मोक्ष चिन्तन का सैद्धांतिक पक्ष	११३
संदर्भ ग्रंथसूचि	११८

बौद्ध धर्मशासन और पर्यावरण संरक्षण

(प्रकृति और मानवीय मूल्यों का परस्परवलंबन)

पर्यावरण का प्रदूषण आज की वैश्विक समस्या है। सांप्रत समय की उपभोक्तावादी संस्कृति में प्रकृति के तत्त्वों का स्वच्छंद रूप से उपयोग हो रहा है। मनुष्य अपनी क्षुल्लक वृत्तियों - वासनाओं की तृप्ति के लिए प्राकृतिक तत्त्वों का मनचाहे ढंग से उपभोग और विनाश कर रहा है। इससे पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, तेज (अग्नितत्त्व) में एक प्रकार की रिक्तता और विकृति भी उत्पन्न होती जा रही है। विशाल परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण समग्र सजीव सृष्टि और मानवजाति के अस्तित्व का प्रश्न है। आज हमें चकाचौंध करनेवाले आर्थिक और भौतिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ा प्रश्नार्थचिह्न है पर्यावरण का। विज्ञान की शक्ति के सहारे उपभोग की अमर्यादित सामग्री उत्पन्न होती जा रही है। मनुष्य सुख ही सुख के स्वप्नों में विहरता है। लेकिन इस साधनसामग्री के अमर्यादित और असंयत उपभोगने हमें पर्यावरण के बहुत बड़े प्रश्नार्थ चिह्न के सामने खड़ा कर दिये हैं।

हमारे ऋषिमुनि-प्रबोधित आचारसंहिता की दृष्टि से भी पर्यावरण की समतुला की समस्या आसानी से हल हो सकती है। बौद्ध धर्म में पर्यावरण - संरक्षा और शुद्धि की समस्या का निरूपण दो प्रकार से हुआ है :

- (१) जीवन जीने के तरीके ऐसे हो कि जिससे प्राकृतिक तत्त्वों का विनाश न हो तथा दूषित भी न हो।
- (२) क्रोधादि कषायों से मुक्ति तथा अहिंसा, मैत्री, करुणा जैसी भावनाओं की परिपूर्णता।

अहिंसक आचार-विचार और प्रकृति के तत्त्वों की सुरक्षा :

गौतम बुद्ध के वचनों में प्राकृतिक परिवेश का बार बार परिचय मिलता रहता

है, बल्के प्रकृति का वैविध्यपूर्ण परिवेश ही बुद्धवचनों को समझने के लिए एक कोश समान है। अपने सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति के सन्निवेशों से कोई न कोई घटना या तत्त्व-पदार्थ को वे दृष्टांत के तरीके से प्रस्तुत करते हैं।

प्रकृति के प्रत्येक तत्त्वों के प्रति उनका मन समभावपूर्ण और संवेदनशील है। अपनी तपश्चर्या का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'सारिपुत्र, ऐसी मेरी करुणा थी, मैं प्राणियों और छोटे छोटे जीव-जंतुओं का ध्यान रखकर आता-जाता था। जलबिंदु के प्रति भी मेरी अनुकंपा थी। विषम स्थानों में रहते हुए क्षुद्र जीवों की हिंसा न हो जाय, इसके लिये भी सतर्क रहता था।'

"सो खो अहं सारिपुत्त, सतो व अभिक्कमामि, सतो व पटिक्कमामि, याव उदकं बिन्दुमिह् पि में दया पच्चुपट्ठिता होति - मा खुद्दक पाणे विसमगंते सङ्घातं आपादेसि'ति।"

विनयपिटक में भिक्खु पातिमोक्ख में भिक्षुओं के लिए जो नियम बताये गये हैं उसमें भी प्राकृतिक तत्त्वों की सुरक्षा की भावना प्रगट होती है। पाचित्तिय के दसवें नियम में कहा है^२ :

"यो पन भिक्खु पथविं खणेय्य वा खणापेय्य वा, पाचित्तियन्ति।" यहां भूमि खोदने का निषेध किया है, इससे बहुत छोटे छोटे जीवों की हानि होती है। जंतुयुक्त पानी पीने का और प्राणि को मारने के लिए भी मना किया है। जैसे कि,

यो पन भिक्खु सञ्चिच्च पाणं जीविता वारोपेय्य पाचित्तियन्ति।

यो पन भिक्खु जीनं सप्पाणकं उदकं परिभुञ्जेय्य पाचित्तियन्ति। यहाँ प्रत्यक्ष हिंसा का स्पष्ट निषेध है।^३

तृण-वृक्ष आदि काटने में भी दोष लगता है। तथागत ने स्पष्ट कहा है, भूतगामपातव्यताय पाचित्तियन्ति।^४

इतना ही नहीं, कुटि के निर्माण समय उसके द्वार खोलने या बंध करते समय, जंगले घुमाने समय या लींपने के समय में भी हरियाली - या वनस्पति को नुकसान न पहुँचे, उसके लिए ध्यान रखने का स्पष्ट उपदेश दिया है। कुटि निर्माण के लिए स्थल पर के अथवा आसपास के वृक्षों का काटना भी निषेध है।^५

पग के पादत्राण या जूते बनाने के लिए भी वृक्षों की छाल का उपयोग नहि करने के आदेश में भी वृक्षों की सुरक्षा का खयाल निहित है। गौतम बुद्धने भिक्षुओं से कहा था - "भिक्खुओ को ताल के पत्र की.... बांस के पौधों की.... तृण की...

मुंज की.... कमल की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए ।” यहां उन्होंने स्पष्ट कहा है कि,

“जीवसञ्जिनो हि, भिक्खवे, मनुस्सा रुक्खस्मि ।”^७

“मनुष्य वृक्षों में जीव का खयाल रखते हैं ।” - अतः वृक्षों का काटना भी हिंसा का ही एक प्रकार है ।

गौतम बुद्ध की दृष्टि से प्राणियों की हिंसा भी वर्जित थी । अभक्ष्य मांस के संदर्भ में “मनुष्य हाथी... घोड़े... कुत्ते.... साँप.... बाघ.... चीते.... भालू.... तळक.... आदिका मांस नहीं खाना चाहिए ।”.... ऐसा उनका विधान था ।^८

उसी समय गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए महार्ध शय्या का निषेध किया था । तब भिक्षुओं सिंह-चर्म, व्याघ्र-चर्म, चीते का चर्म धारण भी करते थे और उन्हें चारपाई के प्रमाण से काटकर, चारपाई के भीतर बिछा रखते थे । भगवान बुद्धने यह बात जानी और उसका निषेध करके बताया कि “मैंने तो अनेक प्रकार से प्राण-हिंसा की निंदा की है और प्राण-हिंसा के त्याग की प्रशंसा की है”^९

न भिक्खवे, महाचम्मनि धारेतब्बनि, सिंहचम्मं, व्यग्घचम्मं, दीपि-चम्मं । आगे भी कहते हैं.... “भिक्खवे... ननु भगवता अनेकपरियायेन पाणतिपातो गरहितो, पाणातिपाता वेरमणी पसत्था.... ।.... न भिक्खवे, गोचम्मं धारेतब्बं ।”

गौतम बुद्धने मनुष्य-हत्या की भी गर्हा की है । और मनुष्य हत्या करनेवाले को पाराजिक का दोष लगाया है ।

यो पन भिक्खु सञ्जि मनुस्सविग्गहं जीविता वोरोपेय्य, सत्थहारकं वास्स परिंयेसेय्य, मरणवण्णं वा संवण्णेय्य, मरणाय वा समादपेय्य... अयं पि पाराजिको होति असंवासो ।

“जो भिक्षु जानकर मनुष्य को प्राण से मारे, या (आत्महत्या के लिए) शस्त्र को खोज लाये, अथवा मृत्यु की प्रशंसा करके मरने के लिए प्रेरित करे... तो यह भिक्षु पाराजिक होता है... (संघमें) सहवास के लिए अयोग्य होता है”^{१०} ।”

इस तरह भिक्षुओं के नियमों के संदर्भ में अहिंसा का और तृण, वृक्ष, पानी, छोटे जीवजंतुओं आदि की सुरक्षा के बारे में गौतम बुद्ध ने प्रेरक उपदेश दिया है ।

अत्यंत अनुकंपाशील और करुणापूर्ण इस महामानव ने अहिंसा के माहात्म्य के बारे में बार बार उपदेश दिया है । “अत्तानं उपमं कत्त्वा न हनेय्य न घातये” कह कर प्राण-हिंसा से विरत होने का बोध दिया है ।

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।

अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति वुच्चति ।

जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं है। सर्व प्रति अहिंसक भावना रखनेवाला ही आर्य है।^{११}

पाणं न हानेय्य न च घातयेय्य, न चानुजञ्जा हननं परेसं ।

सब्बेसु भूतेषु निघाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके ।

संसारमें जो स्थावर और जंगम प्राणी हैं, न उनके प्राण की हत्या करे, न मरवाये और न तो उन्हें मारने की आज्ञा दे। दंडवृत्ति का त्याग करें। यहाँ गौतम बुद्ध ने प्राणियों के साथ साथ 'ये थावरा' - कह कर अन्य प्राकृतिक जंतुओं की भी हानि न करने का स्पष्ट आदेश दिया है।^{१२}

हिंसक परंपरा का प्रतिरोध करने के लिए अ-वैर का मार्ग भी द्योतित किया - 'नहि वेरेन वेरं सम्मति इध कुदाचन, अवेरेन ही सम्मतो वेरं, एसो धम्मो सनंतनो'^{१३}। इसके संदर्भ में दीर्घायु की कथा भी इतनी ही मननीय है।

मनकी विशुद्धि : नैतिक पर्यावरण :

लेकिन गौतम बुद्ध के उपदेशवचनों में प्राकृतिक पर्यावरण की अपेक्षा नैतिक पर्यावरण को ही बहुत ज्यादा महत्त्व दिया गया है। दोनों परस्पर अवलंबित हैं। अहिंसा, करुणा, मैत्री जैसी भावनाओं के विकास से ही प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति भी हृदय संवेदनशील बन सकेगा। तथा.... दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद और अमृतगामी निर्वाण के लिए उन्होंने नैतिक शुद्धि - मन और वृत्तियों की परिशुद्धि का ही महत्त्व कोया है। इससे नैतिक पर्यावरण की सुरक्षा होती है। इसका संबंध कुशल-अकुशल कर्मों के साथ व्यक्ति के संस्कार, नैतिक एवं सामाजिक नियमों एवं आदर्शों से है, जो एक नैतिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं। और इसे बनाये रखने का दायित्व व्यक्ति और समाज दोनों पर है। नैतिकता की कसोटी है - संयम, त्याग, पवित्रता, सत्य के प्रति आस्था, प्रामाणिकता तथा प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना।

वर्तमान समय में नैतिक मूल्यों एवं उन्नत आदर्शों में से आस्था नष्ट हो गई है। आज सबका ध्यान अपने हित की संरक्षा की और ही केन्द्रित हो गया है। सेवा, त्याग, परोपकार आदि भावनायें - जो परिवार और समाज की नींव के समान हैं - वे लुप्त हो गई हैं, नींव ही हील गई है। इसलिए आज आवश्यकता है बुद्ध

द्वारा कथित 'सचित्त परियोदपनं' - चित्त की शुद्धि - मनहृदय की पवित्र प्रेमभावना का पुनःप्रागट्य हो, जिससे सर्वत्र व्याप्त अनैतिकता का दूषित वातावरण दूर हो सके। मानवीय मूल्यों का ह्रास नैतिकता की कमी के कारण है।

स्थूल रूप से होनेवाली हिंसा का त्याग तो अनिवार्य रूप से करना चाहिये - लेकिन उन्होंने किसीके हृदय को भी ठेस न पहुँचे, ऐसे आचारविचार का सदुपदेश दिया। "मा वोच फरुसं कोचि" किसीको कठोर वचन न कहें^{१४}। और 'अनुपवादो अनुपपातो'.... बनना अर्थात् किसीसे विवाद या कलह न करना और किसीका घात न करना।^{१५}

आजीविका के लिये भी सम्यक्त्व का अनुरोध किया। मन-वाणी-काया से सब अकुशल कर्म-हिंसा, चोरी, मिथ्याचार, मृषावाद, परनिंदा, कठोर वचन या लोभ-द्वेष-मोह प्रेक्षित कर्म - का त्याग करके कुशल धर्म का संचय करना और चित्त की विशुद्धि - यही उनका धर्मशासन है।

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।

सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं ॥^{१६}

यही एक गाथा में बौद्धदर्शन का सारा रहस्य गोपित है। इसके पालन से मनुष्य के बाह्य और भीतर दोनों प्रकार का पर्यावरण शुद्ध-परिशुद्ध रहता है।

संयुक्तनिकाय के ब्राह्मणसुत्तमें कहा है -

यो च कायेन वाचा च, मनसा च न हिंसति।

सर्व अहिंसको होति, यो परं न विहंसतीति ॥

और धम्मपद की इस गाथा भी रागद्वेष से रहित होने का बोध देती है :

नत्थि राग समो अग्गि नत्थि दोससमो कलीं।

नत्थि खन्धादिसा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥

मनकी शांति के परे कोई सुख नहीं है^{१७}।

इसके लिये आवश्यकता है - चित्त के सारे कषायों का क्षय करना। सर्प जैसे अपनी कंचूली का त्याग करता है, इस तरह हमें राग-द्वेष-लोभ-मोह-मत्सर आदि का त्याग करना चाहिए। तभी संयमपूर्ण, अनासक्त, रागरहित संवादी जीवन संभव होगा। तब हम स्वार्थ और लोभवश होकर न तो प्राकृतिक पदार्थों का व्यर्थ

विनाश करेंगे कि जिससे बाह्य पर्यावरण दुषित हो, और न तो हम मन-वचन-वाणी से ऐसे कार्य करेंगे कि जिससे अपने या दूसरों के हृदय में दुःख शोक की उद्भावना हो ।

मैत्रीभावना और आंतरिक-बाह्य पर्यावरण की विशुद्धि :

गौतम बुद्धने चार ब्रह्मविहारों की बात की है । मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा । इन भावनाओं से अपने और क्रमशः सारे विश्व को आप्लावित - परिप्लावित करनेका उपदेश उन्होंने दिया है । माता अपने इकलौते पुत्र के प्रति जैसा स्नेहभाव रखती है, ऐसा भाव हमें सबकी और रखना चाहिये ।^{१६} और भी कहा है.....

मेतं च सब्ब लोकस्मि मानसं पावये अपरिमाणं ।

उद्धं अधो च तिरियंच, असंबाधं अवेरं असक्तं ॥^{१७}

ऐसी मैत्रीभावना चरितार्थ करने के बाद ही मनुष्य 'अक्रोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने' क्रोधी को अक्रोध से और असाधु को साधुता से पराजित करता है^{१८} । इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत गौतम बुद्ध के जीवन से ही प्राप्त होते हैं । मदोन्मत्त हाथी को वे क्षणभर में ही वश कर लेते हैं और अंगुलिमाल का हृदयपरिवर्तन उनकी महान सिद्धि है ।

मनुष्य की दुषित रुग्ण, विकृत, हिंसा की मनोवृत्ति से आसपास के वातावरण में और प्राणियों के चित्त में कैसे आतंक फैलता है, उसका दृष्टांत अंगुलिमाल की कथा से प्राप्त होता है । अंगुलिमाल जैसा डाकू-जिसका भीतरी पर्यावरण क्रोधादि कषायों से दूषित है - और कषायों क्रियान्वित होने से लूट, हत्या आदि घटनायें घटती हैं । जो अन्य लोगों के जीवन में भय, अशान्ति और असलामती प्रादुर्भूत करती है । अरण्या के सुंदर, मनोभावन प्राकृतिक परिवेश में भी आतंक छा गया है । वृक्षों और पुष्पों का सौंदर्य किसी को सांत्वना नहीं दे सकता है । इस तरह दोनों रूपों से - आंतरिक और बाह्य - वातावरण क्लुषित और भयप्रद बनता है ।

यहाँ पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए अहिंसा और मैत्री भावना कैसे सफल होती है - वह हम गौतम बुद्ध और अंगुलिमाल के मिलन की घटना से जान सकते हैं^{१९} । गौतम बुद्ध निर्भयता, मैत्री और करुणापूर्ण भावना से अंगुलिमाल को सहज ही में वश कर लेते हैं और अंगुलिमाल अपने शस्त्र-अस्त्रों के साथ हिंसा-क्रोध आदि मलिन वृत्तियों को भी जल में बहा देता है । उसे आश्चर्य होता है कि कैसे तथागत बुद्धने उसका परिवर्तन किया । वह कहता है :

“कोई दंड से दमन करता है, कोई शस्त्र और चाबुक से, तथागत के द्वारा मैं बिना दंड और बिना शस्त्र से दमित कराया हूँ। पहले मैं हिंसक था, आज अहिंसक हूँ।”

राजा प्रसेनजित भी वहाँ आता है, जो बड़ी भारी सेना के साथ डाकू अंगुलिमाल को पकड़ने के लिये जा रहे थे, वे तथागत के सानिध्य में केशरहित मस्तकवाले काषायवस्त्रों धारण किये हुए अंगुलिमाल को भिक्षु के रूप में देखते हैं और बड़े विस्मय का अनुभव करते कहते हैं - “भगवान्, जिसे हम दंड और शस्त्र से भी वश नहि कर पाये, उसको आपने बिना शस्त्र से पराजित किया है।”

यहाँ अहिंसा और मैत्रीभावना का विजय है। इससे आंतरिक और बाह्य परिवेश-व्यक्ति और समुदाय दोनों के हित की दृष्टि से और प्राकृतिक वातावरण में भी विशुद्धि, प्रसन्नता और शांति का अनुभव सहज बनता है।

पर्यावरण और परस्परअवलंबन :

वन-जंगल आदि केवल वृक्ष का समूह वनस्पति का उद्भवस्थान ही नहीं है, लेकिन पृथ्वी पर के अनेक जीवों के जन्म, जीवन और मृत्यु के परस्पर अवलंबनरूप एकम है। वास्तविक दृष्टि से पृथ्वी के सर्व जीवों के लिये वृक्ष-वनस्पति सहित परस्पर अवलंबनरूप, एक आयोजनबद्ध व्यवस्था है। मनुष्य ने अपने स्वार्थवश कुदरत की यह परस्परअवलंबन की प्रक्रिया में विक्षेप डाला है। निष्णात लोगों का मत है कि प्रत्येक सजीव का पृथ्वी के संचालन में अपना योगदान है। लेकिन आज पृथ्वी पर का जैविक वैविध्य कम होता जा रहा है। वन और वनराजि - जीवजंतु, पशुपक्षी आदि का बड़ा आश्रयस्थान है। लेकिन जंगल के जंगल ही जब काटे जा रहे हैं, तब उसमें रहनेवाले पशुपक्षियों की सलामती कैसे रहेगी। सौंदर्य प्रसाधनों के उत्पादन के लिए हाथी, वाघ, मगर, सर्प आदि की अनेक संख्या में निर्मम हत्या की जाती है। कीटकनाशक दवाओं से भी असंख्य जीव-जंतुओं का नाश होता है। वनसृष्टि के विनाश से उपजाऊ जमीन भी बंजर बन जाती है, रणप्रदेशों का विस्तार बढ़ता है।

इस दृष्टि से गौतम बुद्धने सम्यक् आजीविका के लिये भी प्रशस्त नियम दिये हैं। जमीन को खोदने से उसमें रहनेवाले जीवों की हिंसा होती है इस लिये सुरंग आदि बनाना और खनीज संपत्ति का व्यापार करने का भी निषेध है। इस नियम का पालन करनेसे जीवों की रक्षा के साथ खनीजसंपत्ति का अनावश्यक उपयोग भी

नहि होगा। मदिरा जैसी नशीली वस्तु व्यक्ति और समष्टि का अहित करती है। विषयुक्त पदार्थ का व्यापार निषिद्ध है और चोरी से भी आजीविका नहीं करने का आदेश है।

पर्यावरण, मानव संसाधन और विकास की पारस्परिक निर्भरता सर्वविदित है। इनका सन्तुलन जहाँ विकास को प्रशस्त करता है, वहाँ इनका असन्तुलन स्थापित व्यवस्था को कालकवलित कर देता है। अंधाधुंध वृक्षोकी कटाई, भूमिगत जल का भारी दौहन, खनन हेतु पर्वत शृंखलाओं का क्षरण, कारखानों के शोरगुल व वाहनों के धुएँ के कारण फैलता ध्वनि व वायुप्रदूषण सारी मानवजाति के सम्मुख अस्तित्व की चुनौति प्रस्तुत कर रहे हैं। यह कैसा भ्रामक विकास है कि आनेवाले पीढ़ी के पास ट्युबवेल तो होंगे मगर पानी नहीं होगा, आधुनिकतम वाहन तो होंगे मगर ईंधन नहीं होगा, वातानुकूलित यंत्र तो होंगे मगर ऑक्सिजन नहीं होगी।

इस समस्या का निराकरण संयमपूर्ण जीवन से हो सकता है। साधक वैयक्तिक रूप से भी अपने जीवन की दैनिक क्रियाओं - जैसे आहार-विहार अथवा भोगोपभोग का परिमाण भी निश्चित करता है। जैन परम्परा इस सन्दर्भ में अत्यधिक सतर्क है। व्रती गृहस्थ स्नान के लिए कितने जल का उपयोग करेगा किस वस्त्र से अंग पोंछेगा यह भी निश्चित करना पड़ता है। दैनिक जीवन के व्यवहार की उपभोग-परिभोग की हरेक प्रकार की चीजों की मात्रा और प्रकार निश्चित किये जाते हैं।

इस तरह बाह्य चीज-वस्तुओं के संयमित और नियंत्रित उपयोग से पर्यावरण का संतुलन हो सकता है। लेकिन यह नियंत्रण व्यक्ति को अपने आप सिद्ध करना होगा। इसके लिए उसे क्रोधादि कषायों से मुक्त होना पड़ेगा। राग, अहंता, क्रोध, गर्व आदि कषायों पर विजय पाने के बाद ही व्यक्ति की चेतना अपने और पराये के भेद से उपर उठ जाती है। और आयातुल पायेसु अन्य में भी आत्मभाव की अनुभूति करती है। अहिंसक आचरण के लिए मनुष्य के मनमें सर्व के प्रति मैत्रीभावना, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना सदा जागृत होनी चाहिए, अन्यथा उसका व्यवहार स्व-अर्थ को सिद्ध करनेवाला ही होगा, जो सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न कर सकता है।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में संघर्ष और राग-द्वेषादि कषायों :

हमारे व्यक्तिगत जीवन में क्लेषादि भावरूप वृत्तियाँ और विचारधारारयें हैं जिनके कारण व्यक्ति के अंगत और सामाजिक जीवन में अशांति और विषमता उत्पन्न

होती है। मनुष्य के मनमें रहे हुए ममत्व, ईर्ष्या क्रोध आदि सब अनिष्टों के मूल में हैं। विषयभोग की वासना सारे संघर्षों की जननी है। विषयों के उपभोग के प्रति राग-तृष्णा या मोह व्यक्ति का सर्वनाश कर सकती हैं। और व्यक्ति पर ही समाज निर्भर है।

इस तरह सामाजिक जीवन में विसंवादिता उत्पन्न करनेवाली चार मूलभूत असद् वृत्तियाँ हैं - १. संग्रह (लोभ) २. आवेश (क्रोध) ३. गर्व (अभिमान) और ४. माया (छिपाना)। ये चारों अलग अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर व्यवहार, विश्वासघात आदि बढ़ते हैं। २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष और युद्ध का जन्म होता है। ३. गर्व - अभिमान से, मालिकीकी भावना जागृत होती है और दमन बढ़ता है। इस प्रकार कषायों - असद्वृत्तियों के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है। सामाजिक विषमताओं को मिटाने के लिए नैतिक सद्गुणों का विकास अनिवार्य है।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अहंकार भी निजी लेकिन महत्त्व का स्थान रखता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके केन्द्रिय तत्त्व है। इसके कारण सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता - निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान समय में अति अविकसित और समृद्ध राष्ट्रोंमें अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मनमें आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उद्वुद्ध होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, उसे अपने प्रभाव में रखने का प्रयास करता है। जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों ने अहंकार, मान, ममत्व के प्रहाण का उपदेश दिया है, जिसमें सामाजिक परतंत्रता का लोप भी निहित है।

और अहिंसा का सिद्धांत भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धांत स्वतंत्रता के सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध दर्शन एक और अहिंसा-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद एवं उच्च-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

शांतिमय समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति का नीतिधर्म से प्रेरित अहिंसापूर्ण

आचार ही महत्त्व का परिबल है। मूल्यनिष्ठ के कारण व्यक्ति और समष्टि का पर्यावरण भी सुरक्षित रहता है।

व्यक्ति की आंतरिक विशुद्धि ही प्राकृतिक और सामाजिक जीवन में संवादिता की स्थापना कर सकती है। यह संवादिता ही पर्यावरण विशुद्धि का पर्याय भी बन सकती है।

Ecology शब्द का गृहितार्थ :

Ecology शब्द मूलतः ग्रीक 'oikos' पर से बना है। इसका अर्थ है 'परिवार का संबंध' - 'पारिवारिक संबंध'। यह ग्रीक शब्द भी संस्कृत शब्द 'औकस' से बना है, इसका अर्थ है गृह (घर)। इकोलोजी को इससे व्यापक अर्थ में समझने से हम 'वसुधैव कुटुंबकम्' के सत्य का साक्षात्कार कर पायेंगे। जैसे 'गौतम' बुद्धने कहा है : सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। इस सृष्टि में सब परस्पर संलग्न है, ऐसी मान्यता इकोलोजी का वैज्ञानिक आधार है। इकोलोजी (संतुलनशास्त्र-जीवविज्ञान) का प्रत्यक्ष संबंध जीवत व्यवस्था (order) के साथ है। सृष्टि में पृथक् पदार्थ की घटना का अस्तित्व नहीं है, सब परस्परालंबित है। तृण, वृक्ष, कीटाणु से लेकर बृहद्काय प्राणियों-पक्षियों आदि का अस्तित्व अन्योन्य आधारित है। शृंखला की एक कडी को निकाल लेने से उसका सातत्य नष्ट हो जाता है। इस तरह प्राकृतिक परिवेश और मानवजीवन का सूक्ष्म और स्थूल स्तर पर जो अविनाभावी संबंध है वह प्रगाढ़ रूप से परस्पर अलंबित है। इकोलोजी शब्द के मूलभूत अर्थ संदेश पारिवारिक संबंध है। मनुष्य आज वैज्ञानिक सिद्धियों में मदहोश होकर जिस तरह प्रकृति के नियमों की अवगणना करके प्राकृतिक परिवेश को उजाड़ रहा है, इससे पर्यावरण में असमतुला होती जा रही है। यही मदहोशी के माहोल (स्थिति) में मनुष्य-मनुष्य के बीच होती जा रही है। जीवन में सूनापन बढ़ता जा रहा है। मानो सब तरह से पर्यावरण - आंतरिक और बाह्य दृष्टि से भी दूषित हो रहा है।

सांप्रत समय की ऐसी परिस्थिति में गौतम बुद्धने प्राकृतिक परिवेश के ज्यादा से ज्यादा संदर्भ देकर अहिंसा, करुणा और मैत्रीभावना का जो माहात्म्य हमें समझाया है, जीने का तरीका दिखाया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है, निगूढ अंधकार में प्रज्वलित दीपक के समान है। वह प्राकृतिक पर्यावरण के साथ हमारे आंतरिक (चैतसिक) और सामाजिक पर्यावरण को भी परिशुद्ध रखने में सक्षम है, वह उसका सहज ही परिणाम है।

पादटीप

१. महासिंहनाद सुत्त, मज्झिमनिकाय १२
२. पाचित्तिय, ६१-६२
३. एजन, ६१, ६२
४. एजन, ११
५. संघादिशेष, २
६. महावग्ग, चर्मस्कंधक
७. एजन
८. महावग्ग, भैषज्यस्कंधक
९. महावग्ग, चर्मस्कंधक
१०. पातिमोक्ख, पाराजिक-३
११. धम्मपद, २७०
१२. सुत्तनिपात्त, ३९४
१३. धम्मपद, ५
१४. एजन, १३२
१५. एजन, १८५
१६. एजन, १६
१७. एजन, २०२
१८. सुत्तनिपात्त, १४९
१९. सुत्तनिपात्त, ८८
२०. धम्मपद, २२३
२१. मज्झिमनिकाय, सुत्त ८६

बौद्धधर्म में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त

आज २६०० साल के बाद भी बौद्ध धर्म में ऐसी तो संजीवनी है, शक्ति है कि सांप्रत समय के संघर्षमय जीवन की अनेक समस्याओं के निराकरण के लिये हम उसके सिद्धांतों में से मार्गदर्शन पा सकते हैं। बुद्ध के अपने समय में भी व्यक्ति और समष्टि के जीवन में अनेक प्रकार की अराजकता, अव्यवस्था और विसंवादिता थी। ईश्वर, मोक्ष और स्वर्ग प्राप्ति की भ्रमणा में विपथगामी लोग अंधश्रद्धा प्रेरित कर्मकांड में अपने समय-संपत्ति और शक्ति का व्यय करते थे। ज्ञातिप्रथा और उच्च-नीच के भेदभाव विकास में बाधारूप थे। आत्मवाद, ईश्वरवाद और प्रारब्धवाद के वादविवाद में उलझे हुए सामान्य जन-जीवन को बुद्धने सही वास्तविकता का परिचय दिया। उन्होंने आत्मवाद, ईश्वरवाद और प्रारब्धवाद का खंडन करके अनात्मवाद, अनिश्वरवाद और क्षणभंगुरवाद के प्रतिपादन के साथ कर्म-सिद्धांत की महत्ता भी प्रस्तुत की और सदाचाररूप आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया।

बौद्ध धर्म का लक्ष्य निर्वाणप्राप्ति :

बुद्ध के समय में लोग सृष्टि के सर्जक के रूप में ईश्वर को ही मानते थे। लोगों के जीवन का साध्य या सर्व प्रवृत्तियों का केन्द्र यह ईश्वर प्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति था। लेकिन बुद्ध की बुद्धिवादी प्रतिभा को यह स्वीकार्य नहीं था। उनकी दृष्टि से 'निब्बानं परमं सुखम्' - निर्वाण ही परम सुख एवं साध्य था। राद्रेषादि से रहित मन की शांत-स्वस्थ स्थिति-जो आत्यंतिक दुःख निवृत्ति को उत्पन्न करती है, वही उनकी साधना का लक्ष्य था। इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। निर्वाण रोग के अभाव की तरह परम शांत अवस्था है। इस अमृतरूप निर्वाण को प्राप्त करने के लिये उनकी दृष्टि से आत्मवाद, ईश्वरवाद और प्रारब्धवाद निरर्थक थे। उसके विकल्प में उन्होंने पंच उपादान स्कंध, व्रतित्य समुत्पाद और कर्म के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

ईश्वरवाद, नियतिवाद और आत्मवाद का खंडन :

गौतम बुद्ध की दृष्टि से ब्राह्मणों द्वारा स्थापित ईश्वरवाद अंधवेणी परंपरा जैसा है। जैसे एक ही पंक्ति में अन्योन्य के आश्रय से स्थित अंधजनों अपने आप कुछ देख नहीं सकते। इस तरह ईश्वरवादी लोग भी अदृष्ट ईश्वर का साक्षात्कार किया बिना ही उसका स्वीकार करते हैं, और उसके स्वरूपवर्णन करने में भी असमर्थ रहते हैं। ऐसे ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो सकता है। सर्व परिस्थिति और संजोगों को ईश्वर या तो भाग्यनिर्मित मानने से मनुष्य अकर्मण्य हो जायेगा और सद्कर्मों के प्रति उसकी श्रद्धा क्षीण हो जायेगी और असद् या पापकृत्यों द्वारा भी सुख प्राप्ति करने के लिये प्रवृत्त हो जायेगा। हिंसा, चोरी, असत्य, भाषण आदि अनेक दुष्कृत्य ईश्वरप्रेरित ही होने की संभावना दृढ बनेगी। लेकिन ईश्वर के बारे में हमारी जो अवधारणा है, इसके साथ यह सुसंगत नहीं है। गौतम बुद्धने कहा कि सुखदुःख आदि सर्वथा ईश्वरकृत या भाग्याधीन नहीं है। सभी प्राणी या सत्त्व विवश, निर्बल, सामर्थ्यरहित अथवा अवश बनकर नहीं, लेकिन अपने कर्मानुसार, जन्मजन्मांतर की परंपरा की शृंखला से बद्ध होते हैं और सुखदुःख का अनुभव करते हैं।

उसी तरह उन्होंने आत्मा के संदर्भ में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद-दोनों मान्यताओं का अस्वीकार किया था। बौद्ध धर्म में आत्मा के विषय में जो प्रचलित मान्यता हैं, उसका प्रतिषेध किया है। सत्त्व की उपलब्धि पंच-विज्ञानकाय और मनोविज्ञान द्वारा स्वीकृत की गई है। बौद्ध धर्म में उसे चित्त, चित्त का प्रवाह और विज्ञान के नाम से प्रस्तुत करते हैं और वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। चित्त ही परम तत्त्व है और स्कंधों के सुयोजित संयोजन से उसकी उत्पत्ति होती है। बाह्य रूपों की तरह वह भी प्रतिक्षण उत्पन्न और विलीन होती है। चित्त का प्रतिक्षण उत्पन्न और विलीन होने के साथ चित्त का प्रवाह शरीर की चेतनावस्था में और मृत्यु बाद भी प्रवाहित रहता है।

जहाँ तक तृष्णा का संपूर्ण निरोध नहीं होता है, तब तक चित्त का प्रवाह अक्षुण्ण रूप से बहता रहता है - याने जन्म-पुनर्जन्म की परंपरा जारी रहती है। पुनर्जन्म की घटना को प्रतिसन्धि भी कहते हैं।

इस भवचक्र की परंपरा को बुद्ध ने कार्य-कारण के सिद्धान्त के अनुरूप ही प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा समझाया है। - इसका तात्पर्य है

‘अस्मिन् सति इदं भवति ।’

अर्थात् इस कारण के होने से इस घटना घटती है। कारण से ही कार्य

होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की शृंखलाओं में ऐसे बारह निदान उन्होंने बतायें हैं - जैसे कि अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण, शोक, परिवेदना.....। अविद्या और तृष्णा ही सारी कर्मपरंपरा और जन्मपरंपरा के आदि में है।

सृष्टि के सर्जन और परंपरा का नियामक परिबल यह कार्यकारण का सिद्धांत होने का निर्देश करके गौतम बुद्धने इस संदर्भ में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।
कर्मसिद्धान्त :

संसारमीमांसा में कर्म का प्राधान्य सर्वसंमतरूप से स्वीकृत है। मानवजीवन में प्रवर्तित अनेक प्रकार की विषमतायें और विसंभवादिताओंके मूल में कर्म का ही प्राधान्य होने की बात गौतम बुद्धने बार बार कही है। कर्म ही सत्त्वों को हीन और प्रणीत बनाते हैं -

‘कम्मं सत्ते विभाजति यदिदं हीनपणीततायां’ति’ ।

मनुष्य जैसा बोता है वैसा ही फल प्राप्त करता है - यह कर्मसिद्धान्त सबके लिये समान है। संसाररूपी अगाध समुद्र में परिभ्रमण करनेवाला प्रतीत्यसमुत्पाद भी कर्मचक्र ही है। कर्म से विपाक उत्पन्न होता है, इसी कारण से फिर कर्म का उद्भव होता है। कर्म और कर्मफल के परस्परिक संबंध की वजह से भवचक्र घूमता रहता है।

प्रत्येक प्राप्त परिस्थिति और पुनर्जन्म का कारण कर्म है। विश्व में प्रवर्तित सानुकूल या विपरित स्थिति भी ईश्वरकृत नहीं है, कर्मकृत ही है।

हमलोग जो कुछ भी प्रवृत्ति करते हैं, वे सब कर्म हैं। प्रवृत्ति के परिणाम से चित्त पर संस्कार अथवा वासना के रूप में उसका प्रभाव पडता है। यह वासनारूप कर्म पुनर्जन्म के कारणरूप बनता है। इस लिये बुद्ध कहते हैं कि यह शरीर न तो आपका है, न अन्धों का, केवल पहले किये गये कर्म का परिणाम ही है। हमारा सारा अस्तित्व - हमारे अतीतकालीन कर्मों का ही प्रतिरूप है। कर्म ही उसकी विरासत है, कर्म ही प्रभव है, कर्म ही उसका बन्धु और कर्म ही उसका सहारा है।

कर्म शब्द का सामान्य अर्थ :

‘कर्म’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। साधारणतः ‘कर्म’ शब्द का अर्थ ‘क्रिया’ है, प्रत्येक प्रकार की हलचल, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, क्रिया कही जाती है।

मनुष्य जो कुछ भी करता है, जो भी कुछ नहीं करने का मानसिक संकल्प

या आग्रह रखता है वे सभी कायिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ भगवद्गीता के अनुसार कर्म ही है ।

बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया है । वहाँ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल कर्म अथवा अकुशल कर्म कहे जाते हैं । बौद्धदर्शन में यद्यपि शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी वहाँ केवल चेतना की प्रमुखता दी गयी है और चेतना को ही कर्म कहा गया है । बुद्ध ने कहा है, 'चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है ऐसा मैं कहता हूँ, मनुष्य चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है - काया से, वाणी से मन से ।' यहाँ पर चेतना को कर्म कहने का आशय केवल यही है कि चेतना के होने पर ही ये समस्त क्रियाएँ सम्भव हैं । बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है, लेकिन इसका अर्थ नहीं है, कि दूसरे कर्मों पर निरसन किया गया है ।

बौद्ध धर्म अनुसार कर्म का प्रकार :

यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मनकर्म ही प्रधान है, क्योंकि सभी कर्मों का आरम्भ मन से है । साथ ही इसी आधार पर कर्मों का एक द्विविध वर्गीकरण किया गया है - १. चेतना कर्म और २. चेतयित्वा कर्म । चेतना मानस-कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनों वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है, लेकिन कर्मसिद्धान्त में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से अधिक विस्तृत है । साधारण रूप से कर्म शब्द से क्रिया, क्रिया का उद्देश्य और उसका फलविपाक तीनों ही अर्थ लिये जाते हैं ।

बौद्ध कर्म-विचारणा में जनक, उपस्थम्भक, उपपीलक और उपघातक ऐसे चार कर्म माने गये हैं । जनक कर्म दूसरा जन्म ग्रहण करवाते हैं, इन रूप में वे सत्ता की अवस्था से तुलनीय हैं । उपस्थम्भक कर्म दूसरे कर्म का फल देने में सहायक होते हैं, ये उत्कर्षण की प्रक्रिया के सहायक माने जा सकते हैं । उपपीलक कर्म दूसरे कर्मों की शक्ति को क्षीण करते हैं, ये अपवर्तन की अवस्था से तुलनीय हैं । उपघातक कर्म दूसरे कर्म का विपाक रोककर अपना फल देते हैं, ये कर्म उपशमन की प्रक्रिया के निकट हैं । बौद्धदर्शन में कर्म-फल के संक्रमण की धारणा स्वीकार की गयी है । बौद्धदर्शन यह मानता है कि यद्यपि कर्म (फल) का विप्रणाश नहीं

है, तथापि कर्म-फल का सातिक्रम हो सकता है। विपच्यमान कर्मों का संक्रमण हो सकता है। विपच्यमान कर्म वे हैं जिनको बदला जा सकता है, अर्थात् जिसका सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है, यद्यपि फल-योग अनिवार्य है। उन्हें अनियतवेदनीय किन्तु नियतविपाककर्म भी कहा जाता है। बौद्धदर्शन का नियतवेदनीय नियतविपाक कर्म जैनदर्शन के निकाचना से तुलनीय है।

कर्मों की सत्ता, उदय, उदीरण और उपशमन इन चार अवस्थाओं का विवेचन हिन्दू आचारदर्शन में भी मिलता है। वहाँ कर्मों की संचित, प्रारब्ध और क्रियामाण ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं। वर्तमान क्षण के पूर्व तक किये गये समस्त कर्म संचित कर्म कहे जाते हैं, इन्हें ही अपूर्व और अदृष्ट भी कहा गया है। संचित कर्म के जिस भाग का फलभोग शुरू हो जाता है उसे ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म के दो भाग होते हैं। जो भाग अपना फल देना आरब्ध कर देता है वह प्रारब्ध (आरब्ध) कर्म कहलाता है, शेष भाग जिसका फलभोग प्रारम्भ नहीं हुआ है अनारब्ध (संचित) कहलाता है।

बौद्ध दृष्टिकोण - बौद्धदर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधारों पर निम्न १० प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है।

- (अ) कायिक पाप - १. प्राणातिपात (हिंसा), (२) अदत्तादान (चोरी), (३) कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)
- (ब) वाचिक पाप - ४. मुसावाद (असत्य भाषण), ५. पिसुनावाचा (पिशुन वचन), ६. फरूसावाचा (कठोर वचन), ७. सम्पन्लाप (व्यर्थ आलाप)
- (क) मानसिक पाप - ८. अभिज्जा (लोभ), ९. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन), १०. मिच्छदद्वी (मिथ्या दृष्टिकोण)

अभिधम्मत्यसंग्रहो में निम्न १४ अकुशल चैतसिक बताये गये हैं-

१. मोह (चित्त का अन्धापन), मूढता, २. अहिरिक (निर्लज्जता), ३. अनोत्तप्यं-अ-भीरूता (पाप कर्म में भय न मानना), ४. उद्धच्चं-उद्धतपन (चंचलता), ५. लोभो (तृष्णा), ६. दिट्ठी-मिथ्यादृष्टि, ७. मानो-अहंकार, ८. दोसो-द्वेष, ९. इस्सा-ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १०. मच्छरियं-मात्सर्य्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च-कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चाताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशय)।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म :

बौद्ध धर्म में नित्य आत्मा का स्वीकार नहीं है। फिर भी कर्म के सन्दर्भ में पुनर्जन्म का प्रतिपादन है। मनुष्य का चित्त शुभ या अशुभ संकल्प करने के लिये स्वतंत्र है। हम जो भी कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक अथवा मानसिक कर्म करते हैं, उन सर्व का उद्गम हमारा मन है। अतः द्वेषयुक्त अथवा रागयुक्त कर्मों करने से हमारा मन भी रागयुक्त और द्वेषयुक्त बनता है। मनोभावों की यह परंपरा शैशव से मृत्यु पर्यंत चलती रहती है। गौतम बुद्ध बताते हैं कि यह परम्परा जन्म के पहले भी थी और मृत्यु के बाद भी रहती है। मृत्यु से उसका उपच्छेद नहीं होगा। मृत्यु से केवल वही क्षण सूचित होती है कि जब नवीन परिस्थिति में, नये स्कंधसमूह याने शरीर द्वारा कर्मसमूह का विपाक होता है। जब तक तृष्णा के क्षय से चित्तप्रवाह या चित्त-संतति विशुंखलित होकर निर्वाण को प्राप्त नहीं करेगी तब तक यह क्रम चालु रहेगा।

किसी भी वस्तु की अस्तित्व की परंपरा में एक एक अवस्था उत्पन्न होती है और विच्छिन्न होती है। लेकिन प्रवाह निरंतर बहता रहता है। इस तरह कर्म का प्रवाह भी सतत जारी रहता है। प्रतिक्षण में कर्मों का नाश होता है, लेकिन उसकी वासना अगली क्षण में अनुस्यूत रूप से प्रवाहित होती है। प्रत्येक अनुवर्ती स्कंध अपने पूर्ववर्ती स्कंध पर आश्रित है। मनुष्य अभी जैसा भी है, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व उसका अपना है, कोई ईश्वर या नियति का नहीं।

कर्मविपाक :

मनुष्य कुशल अथवा सत्कर्म करने से सद्गति को प्राप्त होता है और अकुशल या असद् कर्म करने से असद्गति को प्राप्त करता है। मूर्ख या पंडित सभी को आवागमन में पडकर अपने दुःखों का अन्त करना पडता है। आसन्न कुशल कर्म का फल सुख, अभ्युदय और सुगति है। निरासन्न कुशल कर्म विपाकरहित होते हैं, वे दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति याने निर्वाण की प्राप्ति में सहायकारी होते हैं।

कर्म विपाक दुर्विज्ञेय है। जब काल निश्चित होता है और कारणसामग्री उपस्थित होती है, तब कर्म का विपाक होता है। कर्म अपने स्वरूप के अनुसार त्वरित या तो देर से, अल्प या महान फल अवश्य देता है। तृष्णा ही कर्म को विपाक प्रदान का सामर्थ्य देती है। तृष्णारहित बनकर कर्म करने से कर्म फल से मनुष्य लिप्त नहीं होगा।

व्यवहारिक जगत में हम प्रवर्तमान कर्मों की दृष्टि से कहीं कहीं विसंगति

देखते हैं। लेकिन यह कर्मविपाक की दुर्विज्ञेयता के कारण है। हिंसक दुराचारी मनुष्य पूर्वकृत सत्कर्मों के उदय से सुख-सम्पत्ति प्राप्त करता है और सदाचारी मनुष्य पूर्वकृत दुष्कर्मों के विपाक के कारण दुःख सहन करता है। यह विसंगति नहीं, कर्म विपाक ही है।

वेद और भगवद्गीता की समान विचारधारा :

अति प्राचीन काल में हमारे वेदों में उद्धोषित किया गया था किं

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः ॥

सो वर्ष तक जीये - लेकिन कर्म करते करते आयु निर्गमन करें। यहाँ निरामय जिंदगी के साथ कर्म का भी माहात्म्य दर्शाया गया है। कर्म हम सब कर सकते हैं, जब कि हमारी तंदुरस्ती अच्छी हो।

मनुष्य को कर्म तो करना ही पड़ता है। कर्म के बिना रह नहीं सकता। लेकिन श्रीमद् भगवद् गीताने जो निष्काम कर्म की बात कही है वह भीतरी शांति के लिये विचारणीय है। वैदिक विचारधारा का जीवन के प्रति त्यागपूर्वक भोग का दृष्टिकोण है। - 'तेन त्यक्तेन भुञ्जिथाः' - हम समृद्धि का उपयोग करें लेकिन निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम भाव से। श्रीमद् गीता में यह निष्काम कर्मयोग को बहुत महत्त्व दिया गया है। कर्म फल का त्याग करते हुए कर्म करने से कर्म बंधन नहीं होगा।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन... २/४७

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२/४८

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांस्वरति निःस्पृह ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

कर्म का व्यक्ति से फल का सम्पत्ति से संबंध है। कर्म का वर्तमान से, फल का भविष्य से संबंध है। निष्काम-कर्म दुःखरहित है, सकाम-कर्म दुःखसहित है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र है। अशांत जीवन की उलझन में फंसे हुए आज के मानव के लिये निष्काम कर्म की विचारधारा वेद और गीता की ओर से मिला हुआ अमर संदेश है।

बौद्ध धर्म में इसी संदर्भ में निरास्रव कुशल कर्म का माहात्म्य बताया है।

बौद्ध तत्त्वदर्शन और प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में पाँचवीं छठी शताब्दी पूर्व का काल वस्तुतः वैचारिक क्रान्ति का काल था। क्योंकि इस काल में अनेक महापुरुषों और मनीषियों के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है।

बौद्धदर्शन की भूमिका :

इस समय में अनेक संप्रदायक प्रचलित थे। उनमें ज्यादातर वैदिक धर्मदर्शन के विपरीत अवैदिक दर्शन की ही परंपरा थी, जिसे श्रमण परंपरा के नाम से अभिहित की जाती है। इस परम्पराओं का सामूहिक स्वर पुरोहितों, कर्मकाण्डों, ईश्वर, आत्मा, वेद आदि के विरुद्ध था और विपरीत रूप से दुःखवादी, निवृत्तिवादी, निरीश्वरवादी, प्रारब्धवादी जैसे विचारों का पोषक था। इनके कारण समाज में अंधश्रद्धा, भूतप्रेत आदि की पूजा, सहेतुक होनेवाले क्रियाकाण्ड आदि का महत्त्व बढ़ गया था। याने धार्मिक दृष्टि से समाज में एक प्रकार की अराजक स्थिति प्रवर्तित हुई थी। उस वक्त श्रमण विचारधारा में बौद्ध, जैन, आजीवक, चार्वाक आदि का उल्लेख होता है, लेकिन उसके साथ मंखली गोशाल का नियतिवाद, पूर्णकश्यप का अक्रियावादे, अजित केशकम्बल का उच्छेदवाद, प्रकूध कात्यायन का अन्योन्यवाद एवं संजय बलट्टिपुत्र का विक्षेपवाद भी प्रचलित था।

इनके साथ चार्वाक का सुखवाद या देहात्मवाद - भी प्रचलित था। यहाँ हम एक बात स्पष्ट रूप से और Logically भी समझ सकते हैं कि जिस समाज में ऐसी विचारधाराओं का बाहुल्य है, हिंसा, चोरी, जूठ, परस्त्रीगमन जैसे दुष्कृत्यों पर कोई नियंत्रण न हो, ऐसे समाज में न तो लोग सुख, शांति और सुरक्षा से रह सकते हैं और न तो समाज में भी सुव्यवस्था और सुसंवादिता की स्थापना संभव

बनेगी। सुख की आकांक्षा से किये गये अपकृत्यों से व्यक्ति को अंत में दुःख ही प्राप्त होगा। ऐसी सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति से प्रेरित प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ था। गौतमबुद्ध ने देखा कि जगत में प्राणीमात्र का जीवन दुःख से परितप्त है, अतः दुःख विमुक्ति के लिये अपने व्यापक और गहन चिंतन से प्रेरित चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और प्रतीत्यसमुत्पाद जैसे सिद्धांत का उपदेश दिया। उनके सिद्धांत तत्कालीन धार्मिक धारणाओं में क्रान्तिकारो परिवर्तन, सामाजिक संरचना का पुनः निर्माण और नूतन जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुए।

बौद्धदर्शन और तत्त्वचिंतन :

गौतम बुद्धने आत्मा, परमात्मा तथा सृष्टि की संरचना - आदि प्रश्नों की समीक्षा - सामान्य जनसमुदाय की दुःखमुक्ति के संदर्भ में अनावश्यक संमझकर, उसके प्रति मौन धारण किया। और वास्तविक जीवन के संदर्भ में अनित्य, दुःख और अनात्म - इन त्रिलक्षण का प्रतिपादन किया। बौद्ध धर्म की दृष्टि से सभी वस्तुएँ संस्कृत हैं, और जो संस्कृत है वह अनित्य है। जो नित्य तथा स्थायी प्रतीत होता है वह भी विपरिणामधर्मी तथा विनाशशील है। अतः कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्षण क्षण परिवर्तनशील है।

तत्त्व का विभाजन :

बुद्ध ने तत्त्वों का विभाजन तीन भागों में किया है - स्कन्ध, आयतन और धातु।

स्कंध पाँच है - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। रूप दो प्रकार का है - एक भूतरूप और दूसरा उपादाय रूप। पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार भूत हैं। इन चार महाभूतों से जो नाना रूप बनते हैं वे उपादाय रूप हैं। वेदना सुखदुःखानुभूत होती है। संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका है। संस्कार कर्म है और विज्ञान चेतना या मन है। संज्ञा, संस्कार, वेदना और रूप के संसर्ग से विज्ञान की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। इसीसे इन्हें अनित्य बतलाया गया है।

आयतन बारह हैं - छह इन्द्रियाँ (चक्षु से मन तक) और रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म - ये छह उनके विषय। इस तरह बारह आयतन होते हैं।

धातु अठारह हैं। उपर्युक्त १२ आयतनों में अनेक छह विज्ञान मिलाने पर १८ धातुओं होती हैं। इन स्कंधों, आयतनों और धातुओं में सारे संसार की वस्तुओं

अन्तर्भूत हो जाती है। शील, समाधि और प्रज्ञा बौद्ध धर्म की आधारभूमि है।

बौद्धदर्शन की मूल भित्ति ये पंच स्कंध और प्रतीत्य समुत्पाद (कार्य-कारण) का नियम है। पाँच स्कंध में रूप स्थूल और चित्त-चैतसिक सूक्ष्म है। ये पाँच स्कंध क्षणिक और नित्य परिवर्तनशील है। इनमें नित्य और कूटस्थ कोई नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद के नियम अनुसार ये उत्पन्न होते हैं, नाश पामते हैं और पुनः अपनी भवशक्ति से जन्म लेते हैं। इन्हीं पाँच उपादानों का एकत्र संघटन शरीर रूप में प्रगट होता है। इसके बारे में वसुबन्धु का स्पष्ट कथन है -

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेश कर्माभिसंस्कृतम् ।

अन्तराभवसन्तव्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥ कोश ३/१८

पंचस्कन्धात्मक आत्मा क्षणिक है, यह संसरण में असमर्थ है। हमारा यह भी कहना है कि किसी आत्मा के अभाव में, किसी नित्य द्रव्य के अभाव में, क्लेश और कर्म से अभिसंस्कृत स्कन्धों का सन्तान (प्रवाह) माकी कुक्षि में प्रवेश करता है, और वही स्कन्ध-सन्तान मरण-भव से उपपत्तिभय पर्यन्त विस्तृत होता है और इसका स्थान अन्तराभव-सन्तति लेती है।

पंच स्कन्धों के साथ प्रतीत्य समुत्पाद का नियम अविनाभूत है। यह हेतुप्रत्ययता का वाद ही कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, पुनः अन्य कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, इस प्रकार भव-चक्र का अनादित्व सिद्ध होता है। इस भव-चक्र के तीन अध्व या मार्ग हैं जिनमें यह पुनः पुनः घूमता है, एक अतीत या पूर्व-भव, दूसरा अनागत या अपर-भव और इन दोनों के बीच में तीसरा वर्तमान या प्रत्युत्पन्न-भव। प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अंग है, अतः यह द्वादशार चक्र भी कहा जाता है।

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त :

पंच स्कंधों के साथ प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त अविनाभाव संबंधित है।

गौतम बुद्धने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा यह समझाया कि दुःख ईश्वरनिर्मित या भाग्यप्रेरित नहीं है इसके लिये कारण है। प्रतीत्य समुत्पाद अविचल कार्यकारणभाव के आधार पर दुःखनिरोध की शक्यता का निर्देश करता है।

कारण के सद्भाव में उत्पत्ति और कारण के असद्भाव में उत्पत्ति का भी अभाव होता है। इस कार्यकारण शृंखला के बार अंग हैं - निदान है, अतः उसे द्वादश निदान और भवचक्र भी कहते हैं।

यह बारह निदान इस तरह है : अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण-शोक, दुःख और दौर्मनस्य । इसमें अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप.... इस प्रकार से समस्त दुःखस्कन्ध का समुदय होता है, यही प्रतीत्य समुत्पाद है । अस्मिन् सति इदम् होति - अर्थात् इसके होने पर यह होता है । प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ प्रायः सापेक्ष कारणतावाद है ।

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ :

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ इस तरह होता है - 'इण' धातु गत्यर्थक है, किन्तु उपसर्ग लगाने से धातु का अर्थ बदल जाता है । इस लिए प्रति इ का अर्थ प्राप्ति है और प्रतीत्य का अर्थ है 'प्राप्ति करके' । पद धातु सत्तार्थक है । सम्+उत् उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है । अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है प्रत्यय (हेतु) प्राप्त कर प्रादुर्भाव - कारण होने से कार्य का उद्भव; उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है । अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है प्रत्यय (हेतु) प्राप्त कर प्रादुर्भाव, कारण होने से कार्य का उद्भव । 'अस्मि सति इदं होति' अर्थात् इसके होने पर यह होता है - ऐसा सूत्रात्मक अर्थ दिया जाता है ।

प्रतीत्य समुत्पाद अनुलोम - प्रतिलोम दो प्रकार का है । यह हेतुप्रत्ययता का वाद है । अतः जिस तरह एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है, इस तरह एक प्रत्यय के निरोध से अन्य प्रत्ययों का भी क्रमशः निरोध होता है । अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है... और क्रमशः जाति, जन्म का निरोध होने से जरा, मरण, शोक... आदि का निरोध होता है । इस तरह समस्त दुःख स्कन्ध का नाश होता है । प्रतीत्य समुत्पाद में इस तरह अनुलोम और प्रतिलोम के माध्यम से दुःख समुदय और दुःख निरोध का प्रतिपादन हुआ है । इस लिये इस सिद्धान्त का महत्त्व समझाते हुए गौतम बुद्धने कहा है कि जो प्रतीत्य समुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है और जो धर्म को जानता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को जानता है ।

प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादश अंगों का परिचय इस प्रकार है :

१. अविद्या : अविद्या का अर्थ है अज्ञान । प्रायः चार आर्य संत्यों का अज्ञान ही अविद्या है । अनित्य, दुःखरूप और अनात्म जगत में आत्मा को खोजना अविद्या है । वसुबन्धु पूर्वजन्म की क्लेषावस्था को अविद्या कहते हैं ।

२. **संस्कार** : संस्कार का कई अर्थ है, लेकिन यहाँ संस्कार का अर्थ 'कर्म' किया गया है, यह पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। अविद्यावश सत्त्व जो भी कुशल-अकुशल कर्म करता है, वही 'संस्कार' कहलाता है। संस्कार तीन प्रकार के हैं - काय संस्कार, मनः संस्कार और वाक् संस्कार।
३. **विज्ञान** : विज्ञान प्रत्युत्पन्न जीवन की वह अवस्था है, जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चेतना प्राप्त करता है। यह गर्भ अथवा प्रतिसन्धि का क्षण है। इसे उपपत्ति-क्षण भी कहते हैं। विज्ञान विज्ञानन को भी कहते हैं।
४. **नामरूप** : नामरूप में दो शब्द हैं - नाम और रूप। 'रूप' में चार महाभूत पृथ्वी, जल, तेज और वायु तथा 'नाम' में संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध आते हैं। दोनों को मिलाकर ही पञ्चस्कन्ध नामरूप कहलाते हैं। रूप औदारिक, स्थूल होता है और प्रत्यक्ष है, नाम क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं। नाम को मानसिक धर्म भी कहते हैं। विज्ञान माता की कुक्षि में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है तभी से नामरूप की उत्पत्ति शुरू होती है।
५. **षडायतन** : छह आयतन अर्थात् पाँच इन्द्रियों और मन षडायतन कहलाते हैं। ये षडायतन ही ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं। षडायतन उस अवस्था का सूचक है, जब सत्त्व माता के उदर से बाहर जाता है, और उसकी छह इन्द्रियों पूर्णतः या तैयार हो जाती है, परंतु वह अभी तक उन्हें प्रयुक्ति नहीं कर सकता।
६. **स्पर्श** : इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष को स्पर्श कहते हैं। जैसे चक्षु से रूप का संनिकर्ष होना चक्षुसंस्पर्श है। पाँच इन्द्रियों और मन के भेद से स्पर्श भी छह प्रकार का है।
७. **वेदना** : वेदना का अर्थ है अनुभव करना। इन्द्रिय और विषय के संयोग से मन पर जो प्रथम प्रभाव होता है, उसे वेदना कहते हैं। वह तीन प्रकार की है - सुखा वेदना, दुःखा वेदना और न सुखा न दुःखा वेदना।
८. **तृष्णा** : रूपादि कामगुण के प्रति राग का समुदाचार अथवा अनुभूत सुख को पुनः पुनः प्राप्त करने की तीव्र प्रबल इच्छा या वृत्ति ही तृष्णा है, वही आसक्तिमूलक भी है। तृष्णा तीन प्रकार की होती है : काम, भव और विभव। यह त्रिविध तृष्णा ही सत्त्व को भवचक्र में घुमानेवाली होती है। तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। यह विषय-भेद से छह प्रकार की होती है।

९. उपादान : विषयों को दृढतापूर्वक ग्रहण करना उपादान है। यह चार प्रकार का होता है : कामउपादान, दृष्ट्युपादान, शीलव्रत उपादान और आत्मवाद उपादान।
१०. भव : होना 'to be' ही भव है। पुनर्जन्म करानेवाले कर्म भव कहलाता है। यह दो प्रकार का है : उपपत्ति भव और कर्म भव। जिस जिस उपादान के कारण सत्त्व जिस जिस लोक में जन्म लेता है, वह उपपत्ति भव है और जो कर्म विशेष पुनर्जन्म करानेवाले होते हैं उसे कर्मभव कहते हैं। कर्म से फल की उत्पत्ति होती है, अतः कर्म को ही भव कहते हैं। पूर्वजन्म के संस्कार के अनुरूप, अनागत काल में जो जन्म होनेवाला है, उसे उपपत्ति कहते हैं।
११. जाति : जाति अर्थात् जन्म। उत्पन्न होना जाति है। सत्त्व पूर्वभव के कारण उत्पन्न होता है। जाति पाँच स्कन्धों के स्फूर्ण की अवस्था है।
१२. जरा-मरण : जरा और मरण दो अवस्थाएँ हैं। जीर्ण होना जरा है। और मृत्यु होना मरण है। भगवान् कहते हैं कि उन उन सत्त्वों का उन उन सत्त्वनिकाय में जरा, जीर्णता, दाँतों का टूटना (खाण्डिन्यं), बालों का पकना(पालिच्चं), त्वया या काय में झुर्रियाँ पड जाना, आयु की हानि और इन्द्रियों का पक जाना जरा है। और सत्त्वों का अपने निकाय याने शरीर से च्यूत होना, च्यवनता, भेद, अंतर्धान, शरीर का गिरना, मरण, काल करना, स्कन्धों का विच्छेद होना यह मृत्यु है। इस प्रकार जाति से जरा-मरण है। और मरण से शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, परेसानी, उपायास आदि उत्पन्न होते हैं। स्वजनों और संपत्ति के नाश से उत्पन्न अनुताप शोक है। शोक से उत्पन्न विलाप परिदेव है। शारीरिक पीड़ा अथवा पंचविज्ञानकाय के अरुचिकर अनुशय दुःख है। मानसिक वेदना दौर्मनस्य है और तीव्रवेदना उपायास है।

इस तरह यह कार्यकारण की शृंखला ही दुःख की उत्पत्ति के लिये कारणरूप है। दुःख न तो ईश्वरनिर्मित है, न तो भाग्यप्रेरित। प्रतीत्य समुत्पाद द्वारा आंतरिक और बाह्य जीवन के समस्त कार्यकलापों के समुदय और निरोध का क्रम, कारण और कार्य का अन्योन्य आश्रितभाव के आधार से निदर्शन किया गया है।

यहाँ कार्य-कारण की चर्चा अति सूक्ष्म तरीके से हुई है, अतः प्रतीत्य समुत्पाद में तथता, वितथता, अनन्यता और इन्द्रियप्रत्यता का वर्णन भी है। किसी एक वस्तु की उत्पत्ति के लिये, जितने प्रत्यय आवश्यक है, उससे न ज्यादा और न कम प्रत्यय होने

से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। उसे अवितथा कहते हैं। किसी एक वस्तु की प्रत्यय सामग्री से दूसरी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं है। जैसे गेहूँ की प्रत्यय सामग्री से चावल प्राप्त नहीं हो सकते। यह प्रतीत्य समुत्पाद की अनन्यता है। और कारणसामग्री और उनके कार्य के बीच - इसके होने से यह होता है, ऐसा जो संबंध है, वह उसकी इदं-प्रत्ययता है। इससे उपरांत प्रतीत्य समुत्पाद तीनों काल, पाँच संधि और अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग के साथ भी संबंधित है।

बौद्ध संप्रदायों की तत्त्वमीमांसा :

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म अनेक संप्रदायों में विभाजित हुआ। प्रायः चार आर्य सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का सबने स्वीकार किया। अन्य संप्रदायों के बजाय हीनयान और महायान संप्रदाय का ज्यादा प्रभाव रहा।

इनके चार भि-भिन्न सम्प्रदाय हो गये और इन सबोंने विश्व के पदार्थों की 'सत्ता' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। 'हीनयान' की दो शाखाएँ हुई - 'वैभाषिक' तथा 'सौत्रान्तिक'। बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् तीसरी सदी में 'वैभाषिक' मत की तथा चौथी सदी में 'सौत्रान्तिक' मत की सिद्धि हुई। 'महायान' की भी दो शाखाएँ हुई - 'योगाचार' या 'माध्यमिक' या 'शून्यवाद'।

वैभाषिक-मत में जिस जगत् का इन्द्रियो के द्वारा हमें अनुभव होता है वह उसकी 'बाह्य-सत्ता' है। इसका हमें प्रत्यक्ष और कभी-कभी अनुमान से भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस जगत् की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है, साथ ही साथ हमारे अन्दर चित्त तथा उसकी सन्तति की भी स्वतन्त्र 'सत्ता' है। अर्थात् जगत् एवं चित्तसन्तति दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से वैभाषिक-मत में मानी जाती है। यह सत्ता प्रतिक्षण में बदलती रहती है, अर्थात् ये लोग 'क्षणभंगवाद' का स्वीकार करते हैं। वस्तुतः 'क्षणभंगवाद' को तो सभी बौद्ध मानते हैं।

सौत्रान्तिकों का कथन है कि 'बाह्य-सत्ता' तो है अवश्य, किन्तु इसका ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, नहीं होता। 'चित्त' में स्वभावतः कोई आकार बौद्ध नहीं मानते। यह शुद्ध और निराकार है। किन्तु इस 'चित्त' में आकारों की उत्पत्ति तथा नाश होता ही रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म तो हैं नहीं। ये हैं बाह्य जगत् की वस्तुओं के 'आकार'। इस प्रकार चित्त के आकारों के द्वारा 'बाह्य-सत्ता' का ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है, यह 'सौत्रान्तिकों' का मन्तव्य है। 'वैभाषिकों' की तरह 'क्षणभंगवाद' को ये भी मानते हैं।

सौत्रान्तिक-मत में सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी हो गयी।

योगाचार के मत में 'बाह्य-सत्ता' का सर्वथा निराकरण किया गया है। इनके मत में 'चित्त' में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है। ये 'विज्ञान' परस्पर भिन्न होते हुए भी वासन-संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, परन्तु फिर भी सभी स्वतन्त्र हैं। ये 'विज्ञान' स्वप्रकाश हैं। इनमें अविद्या के कारण ज्ञाता-ज्ञान तथा ज्ञेय के भेद की कल्पना हम कर लेते हैं। इस मत में बाह्य जगत की सत्ता नहीं है। ये लोग केवल चित्त की सन्तति की सत्ता को मानते हैं और सभी वस्तुओं को ज्ञान के रूप कहते हैं। इन के मत में यह 'विज्ञान' या 'चित्त-सन्तति' क्षणभंगिनी है।

इस प्रकार क्रमशः बाह्य जगत् की 'स्वतन्त्र-सत्ता', पश्चात् 'अनुमेय-सत्ता', तत्पश्चात् बाह्य जगत् का निराकरण और सभी वस्तु को विज्ञान-स्वरूप मानना, इस प्रकार क्रमिक अन्तर्जगत् की तरफ तत्त्व के यथार्थ अन्वेषण में बौद्ध लोग लगे थे।

अन्त में 'विज्ञान' का भी निराकरण शून्यवाद-मत में किया गया। इस प्रकार बाह्य और अन्तःसत्ता दोनों का 'शून्य' में विलयन कर दिया गया। यह 'शून्य' एक प्रकार से अनिर्वचनीय है। यह सत् और असत् दोनों-से विलक्षण है तथा सत् और असत् दोनों स्वरूप शून्य के गर्भ में निर्वाण को प्राप्त किये हुए हैं। यह अभावात्मक नहीं है एवं अलक्षण है।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्य सत्ता' से 'अनुमेय बाह्य सत्ता', उसे 'अन्तःविज्ञानमात्र सत्ता' और पुनः 'शून्य' में निर्वाण की सत्ता को देखकर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण, आदि शब्दों के द्वारा निरूपित किया गया 'शून्य' ही 'परम तत्त्व' है। यही महानिर्वाणपद है। यहीं पहुँचकर साधक 'परम पद' की प्राप्ति करते हैं। इसके परे कोई गन्तव्य पद नहीं है। इस 'शून्य' में विलयन होने के उद्देश्य से आरम्भ में ही क्षणभंगवाद को बौद्धो ने स्वीकार किया।

इस तरह बौद्ध संप्रदायों ने जगत् के स्वरूप के बारे में तार्किक दृष्टि से गहन चिंतन किया है, लेकिन गौतम बुद्धने अपने आप कार्य-कारण के संदर्भ में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को ही - तत्त्व की दृष्टि से भी प्रतिपादित किया है। यह सिद्धान्त ही बौद्ध तत्त्वदर्शन के साररहस्य रूप है।

संदर्भ ग्रंथ

१. भारतीय दर्शन - ले. न.कि.देवराज
२. बौद्ध धर्मदर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव
३. बौद्धदर्शन - एम. के. भट्ट
४. भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र

बौद्ध तत्त्वमीमांसा : हीनयान संप्रदाय के अनुलक्ष्य में

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म अनेक संप्रदायों में विभाजित हुआ। अन्य संप्रदायों के बजाय हीनयान और महायान संप्रदाय का ज्यादा प्रभाव रहा। इनके चार भिन्न भिन्न संप्रदाय हो गये और इन सभी ने विश्व के पदार्थों की 'सत्ता' के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। हीनयान की दो शाखाएं हुई - 'वैभाषिक' तथा 'सौत्रान्तिक'। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् तीसरी सदी में वैभाषिक मत तथा चौथीसदी में सौत्रान्तिक मत ज्यादा प्रचलित हुए। महायान की भी दो शाखाएं हुई - योगाचार या विज्ञानवाद और माध्यमिक या शून्यवाद।

गौतम बुद्धने आत्मा, परमात्मा तथा सृष्टि की संरचना - आदि प्रश्नों की समीक्षा - सामान्य जनसमुदाय की दुःखमुक्ति के संदर्भ में अनावश्यक समझकर, उसके प्रति मौन धारण किया। उन्होंने चार आर्य सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद का प्रतिपादन किया। अनीश्वरवाद और आनात्मवाद के साथ क्षणभंगवाद का भी प्रतिबोध दिया। उनकी दृष्टि से कोई भी वस्तु नित्य नहीं है, संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्षण क्षण परिवर्तनशील है।

बौद्ध संप्रदाय में अनेक रूप से मतों की विभिन्नता है, लेकिन चार आर्यसत्य और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांतों का सबने स्वीकार किया है। गौतम बुद्धने आध्यात्मिक प्रश्नों को अव्याकृत कह कर उनकी समीक्षा नहि की, परंतु बाद में जितने बौद्ध संप्रदाय हुए, उनके विद्वान आचार्यों ने जीव, जगत, इश्वर, सृष्टि, आत्मा-परमात्मा के संबंध में अपने अपने विचार प्रकट किये।

हीनयान अथवा स्थविरवाद :

उसके दो संप्रदाय वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक हुए। गौतम बुद्ध के उपदेश के अनुसार, तत्त्वविचार की दृष्टि से उसकी मूल भित्ति पंच स्कंध और प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्य-कारण) का नियम है। पंच स्कंध में रूप स्थूल और चित्त-चैतसिक सूक्ष्म है। ये पाँच स्कंध क्षणिक और नित्य परिवर्तनशील है। इनमें नित्य और फूटस्थ

कोई नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद के नियम अनुसार ये उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं और पुनः अपनी भवशक्ति से जन्म लेते हैं। इन्हीं पाँच उपादानों का एकत्र संघटन शरीर-रूप में प्रगट होता है।

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत :

पंच स्कंधों के साथ प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत अविनाभाव संबंधित है।

गौतम बुद्धने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा यह समझाया है कि दुःख ईश्वरनिर्मित या भाग्यप्रेरित नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद अविचल कार्यकारणभाव के आधार पर दुःखनिरोध की शक्यता का निर्देश करता है।

कारण के सद्भाव में उत्पत्ति और कारण के असद्भाव में उत्पत्ति का भी अभाव होता है, इस कार्यकारण शृंखला के बार अंग हैं - निदान है, अतः उसे द्वादश निदान और भवचक्र भी कहते हैं।

यह बारह निदान इस तरह हैं : अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण-शोक, दुःख और दौर्मनस्य। इसमें अविद्या के संस्कार, संस्कार से विज्ञान, से नामरूप.... इस प्रकार से समस्त दुःखस्कन्ध का समुदय होता है, यही प्रतीत्य समुत्पाद है। 'अस्मि सति इदम् होति' - अर्थात् इसके होने पर यह होता है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ प्रायः सापेक्ष कारणतावाद है।

अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है प्रत्यय (हेतु) प्राप्त कर प्रादुर्भाव - कारण होने से कार्य का उद्भव - उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है प्रत्यय (हेतु) प्राप्त कर प्रादुर्भाव, कारण होने से कार्य का उद्भव। 'अस्मि सति इदम् होति' अर्थात् इसके होने पर यह होता है - ऐसा सूत्रात्मक अर्थ दिया जाता है।

प्रतीत्य समुत्पाद अनुलोम - प्रतिलोम दो प्रकार का है। यह हेतु प्रत्ययता का वाद है। अतः जिस तरह एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है, इस तरह एक प्रत्यय के निरोध से अन्य प्रत्ययों का भी क्रमशः निरोध होता है। अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है और क्रमशः जाति, जन्म, का निरोध होने से जरा, मरण, शोक.... आदि का निरोध होता है। इस तरह समस्त दुःखस्कन्ध का नाश होता है। प्रतीत्य समुत्पाद में इस तरह अनुलोम और प्रतिलोम के माध्यम से दुःख समुदय और दुःख निरोध का प्रतिपादन हुआ है। इस लिये इस सिद्धान्त का महत्त्व समझाते हुए गौतम बुद्धने कहा है कि जो प्रतीत्य समुत्पाद

को जानता है, वह धर्म को जानता है और जो धर्म को जानता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को जानता है ।^१

यो पटिच्चसमुत्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति ।

यो धम्मं पस्सति सो परिच्चसमुत्पादं परस्सति ॥

इस तरह यह कार्यकारण की शृंखला ही दुःख की उत्पत्ति के लिये कारणरूप है। दुःख न तो ईश्वरनिर्मित है, न तो भाग्यप्रेरित। प्रतीत्य समुत्पाद द्वारा आंतरिक और बाह्य जीवन के समस्त कार्यकलापों के समुदय और निरोध का क्रम, कारण और कार्य का अन्योन्य आश्रितभाव के आधार से निदर्शन किया गया है।

तत्त्वविचार की दृष्टि से कार्य-कारण पर आधारित यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत बौद्धदर्शन की हीनयान शाखा और उसकी प्रशाखाओं में भी विशेष महत्त्व रखता है।

हीनयान की दो प्रशाखाएँ हैं : वैभाषिक और सौत्रान्तिक :

वैभाषिक संप्रदाय का केन्द्र काश्मीर था। इस संप्रदाय के सिद्धान्तों को ग्रंथबद्ध करने का प्रथम प्रयत्न बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् कात्यायनी-पुत्रने किया। उनके 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' और वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' में तत्त्वों का बहुत सूक्ष्म और विस्तृत रूप से विचार किया है।

वैभाषिक संप्रदाय में तत्त्वों का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है :
'विषयगत' और 'विषयिगत' :

विषयिगत दृष्टि से समस्त जगत को तीन भागों में विभक्त किया गया है : स्कन्ध, आयतन और धातु। स्कन्ध राशि को कहते हैं। आयतन का अर्थ आय-द्वार, उत्पत्तिद्वार है। धातु से आशय स्रोत का है।

स्कन्ध पाँच है - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।^१ रूप दो प्रकार का है - एक भूतरूप और दूसरा उपादाय रूप। पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार भूत हैं। इन चार महाभूतों से जो विविध रूप बनते हैं वे उपादाय रूप हैं। वेदना सुखदुःखानुभूत होती है। संज्ञा निमित्तोदग्रहणात्मक होती है। संसार कर्म है और विज्ञान चेतना या मन है। संज्ञा, संस्कार, वेदना और रूप के संसर्ग से विज्ञान की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। इसीसे इन्हें अनित्य बतलाया गया है।

आयतन :

बस्तुओं का ज्ञान स्वतंत्र रूप से नहीं होता, उसके लिये किसी आधार कि अपेक्षा रहती है। इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान होता है। अतएव, इन्द्रियों तथा

उनके विषय ज्ञान के आधार हैं। इन्हीं आधारों को आयतन कहते हैं चक्षु से मन तक छह इन्द्रियाँ हैं और रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म इनके विषय हैं। इस तरह बारह आयतन होते हैं। इनके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है।

मन-आयतन का विषय धर्म है। बौद्धदर्शन में धर्म शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है। भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्त्वों को 'धर्म' कहते हैं, जिन के आघात तथा प्रतिघात से समस्त जगत की स्थिति होती है, अर्थात् यह जगत धर्मों का एक संघात मात्र है।^१

ये सभी धर्म सत्तात्मक हैं और 'हेतु' से उत्पन्न होती हैं। सभी स्वतंत्र हैं और क्षण, क्षण परिवर्तित होते रहते हैं।

प्रथम ग्यारह आयतनों में प्रत्येक में एक एक धर्म है और मन आयतन में चौसठ धर्म होने के कारण उसे 'धर्मायतन' भी कहते हैं।

धातु - यहाँ 'धातु' शब्द का अर्थ 'स्वलक्षण' अर्थात् स्वतंत्र सत्ता रखनेवाला, ऐसा किया जाता है। वसुबन्धुने धातुओं की ज्ञान के 'अवयव' अर्थात् वे सूक्ष्म तत्त्व-जिन के समूह से ज्ञान की सन्तति की उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है।

इनकी संख्या अठारह है : छः इन्द्रियाँ, छः इन्द्रियों के विषय तथा छ इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न विज्ञान।

जैसे-

इन्द्रिय	विषय	विज्ञान
(१) चक्षुधातु	(७) रूपधातु	(१३) चक्षुर्विज्ञान (चाक्षुष ज्ञान)
(२) श्रोत्रधातु	(८) शब्दधातु	(१४) श्रोत्रविज्ञान (श्रावण ज्ञान)
(३) घ्राणधातु	(९) गन्धधातु	(१५) घ्राणविज्ञान (घ्राणज ज्ञान)
(४) रसनाधातु	(१०) रसधातु	(१६) रसनविज्ञान (रासन ज्ञान)
(५) कायधातु	(११) स्प्रष्टव्यधातु	(१७) कायविज्ञान (स्पर्शन ज्ञान)
(६) मनोधातु	(१२) धर्मधातु	(१८) मनोविज्ञान (अन्तर्हृदय के भावों का ज्ञान)

यहाँ प्रथम बारह तो आयतन हैं। इन्द्रिय और अपने अपने विषयों के संपर्क से छः विशेष विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह धातुओं की संख्या अठारह होती है।

जगत का विषयगत विभाग :

विषयगत दृष्टि से जगत के धर्मों के दो भाग किये जाते हैं : असंस्कृत धर्म तथा संस्कृत धर्म।

असंस्कृत धर्म का अर्थ है - जो नित्य, स्थायी तथा शुद्ध है तथा किसी हेतु या कारण की सहायता से उत्पन्न न हो। असंस्कृत धर्म अपरिवर्तित है तथा किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिये संघटित नहीं होते।

संस्कृत धर्म अनित्य, अस्थायी तथा अशुद्ध होते हैं। वे हेतु-प्रत्यय के द्वारा वस्तुओं के संघटन से उत्पन्न होते हैं।^{१५}

असंस्कृत धर्म के भेद - सर्वास्तिवाद के अनुसार 'असंस्कृत धर्म' तीन हैं - 'प्रतिसंख्यानिरोध', 'अप्रतिसंख्यानिरोध' तथा 'आकाश'।

धर्म का एक तात्पर्य है - भाव, सत् अथवा वस्तु।

वैभाषिकों की दृष्टि से सभी धर्मों की सत्ता यद्यपि पृथक् है, परंतु उनके संघात से जगत् के निर्माण की कल्पना की गई है। धर्म की सूक्ष्मतम व्याख्या निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में है :

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतु तेषां तथागतो ह्यवदत् ।

अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः ॥

अर्थात् प्रत्येक धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है और उसका निरोध भी होता है। डॉ. शेखात्सकीने धर्मता के विश्लेषण में उसकी प्रमुख विशेषताओं का आकलन किया है - धर्मता - नैरात्म्य - क्षणिकत्व, संस्कृतत्व, आश्रय - अनाश्रवत्व, संक्लेश - व्यवदानत्व, दुःखनिरोध और निर्वाण।

(१) प्रतिसंख्यानिरोध - 'प्रतिसंख्या' शब्द का अर्थ है, 'प्रज्ञा' और उसके द्वारा जो निरुद्ध होता है उसे 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहा जाता है। अर्थात् 'प्रज्ञा' के द्वारा सभी 'सास्रव', अर्थात् राग, द्वेष, आदि धर्मों का जो पृथक्-पृथक् विसंयोग है, वही 'प्रतिसंख्यानिरोध' है। इसके उदय होने से राग तथा द्वेष का निरोध हो जाता है और इस क्रम से पृथक्-पृथक् अन्य सभी सास्रव-धर्मों का भी निरोध हो जाता है।

(२) अप्रतिसंख्यानिरोध - 'प्रज्ञा' के बिना ही जो निरोध होता है, उसे

‘अप्रतिसंख्यानिरोध’ कहते हैं। अर्थात् ‘अप्रतिसंख्यानिरोध’ वह अवस्था है जब बिना ‘प्रज्ञा’ के, ‘स्वभाव’ से ही, सास्त्रवधर्मों का निरोध हो जाय। सास्त्रवधर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। यदि उन हेतुओं का नाश हो जाय तो ये सभी धर्म स्वयं, अर्थात् ‘प्रज्ञा’ के बिना ही, निरुद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार जो धर्म निरुद्ध होंगे वे पुनः उत्पन्न नहीं होंगे।

‘प्रतिसंख्यानिरोध’ में निरोध का ज्ञानमात्र रहता है, वास्तविक निरोध तो ‘अप्रतिसंख्यानिरोध’ में ही होता है।

- (३) ‘आकाश’ - आवरण के अभाव को ‘आकाश’ कहते हैं। कहा गया है - ‘आकाशम् अनावृत्ति’। अर्थात् ‘आकाश’ न किसी का विरोध करता है और न स्वयं किसी से अवरुद्ध होता है। यह नित्य और अपरिवर्तनशील है। यह भाव-रूप है।

संस्कृत धर्म के भेद - संस्कृत धर्म के चार भेद हैं - ‘रूप’, ‘चित्त’, ‘चैतसिक’ तथा ‘चित्तविप्रयुक्त’। पुनः ‘रूप’ के ग्यारह, ‘चित्त’ के एक, ‘चैतसिक’ के छियालीस तथा ‘चित्तविप्रयुक्त’ के चौदह प्रभेद हैं।

- (१) रूप - जगत् के भूत और भौतिक पदार्थों के लिए बौद्ध-दर्शन में ‘रूप’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् ‘रूप’ वह पदार्थ है जो अवरुद्ध उत्पन्न करे। बाह्येन्द्रिय पाँच (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा काय), इनके पाँच विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पृष्टव्य) तथा ‘अविज्ञप्ति’, ये ग्यारह ‘रूप’ के प्रभेद हैं। इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं जो अभिधर्मकोश में दिये गये हैं।

- (२) चित्त - बौद्ध-दर्शन में ‘चित्त’, ‘मन’, ‘विज्ञान’ आदि शब्द एक ही अर्थ में ‘प्रयोग’ किये जाते हैं।

शास्त्र में चित्त और चैत के अनेक नाम हैं। चित्त (Mind), मन (Reason), विज्ञान (Counsness) - ये नाम एक अर्थ के वाचक हैं। न्याय-वैशेषिक में केवल मन शब्द का प्रयोग है। जो संचय करता है। (चिन्तोति) वह चित्त है, यह कुशल - अकुशल आदि का संचय करता है। यही मन है, क्योंकि मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योंकि वह अपने आलंबन को जानता है। ऐसा कहा गया है कि चित्त नाम इस लिये है कि यह शुभ-अशुभ धातुओं से चित्रित है। यह मन है क्योंकि यह अपर-चित्त का आश्रयभूत है, यह विज्ञान है, क्योंकि वह इन्द्रिय और आलंबन पर आश्रित

है। अतः इन तीनों नामों के निर्वचन में भेद है, लेकिन एक ही अर्थ प्रज्ञात करते हैं।

इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय, इन दोनों के आघात तथा प्रतिघात से 'चित्त' उत्पन्न होता है। जिस समय इस आघात तथा प्रतिघात का नाश होता है उसी समय 'चित्त' का भी नाश होता है। वैभाषिक-मत में 'चित्त' ही एक मुख्य तत्त्व है। इसी में सभी संस्कार रहते हैं। यही 'चित्त' इस लोक तथा परलोक में आता-जाता रहता है। यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। अतएव इसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। वस्तुतः यह एक है, किन्तु उपाधियों के कारण इसके भी अनेक प्रभेद हैं।

- (३) चैतसिक - 'चित्त' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले मानसिक व्यापार को चैतसिक या 'चित्तसंप्रयुक्तधर्म' कहते हैं। इसके छियालीस प्रभेद हैं।
- (४) चित्तविप्रयुक्त - जो धर्म न तो रूप-धर्मों में और न चित्त के धर्मों में परिगणित हो, उन्हें 'चित्तविप्रयुक्त धर्म' कहते हैं। इनकी संख्या चौदह है।
- (५) निर्वाण - अभिधर्मकोश में इसे 'सोपधिशेषनिर्वाणधातु' की प्राप्ति कहा गया है। यह ज्ञान का आधार है। यह एक है। सभी भेद इसमें विलीन हो जाते हैं। अतएव कहा गया है - 'निर्वाणं शान्तम्।' क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिकाः।

'निर्वाण' जीवन की एक वह स्थिति है जिसे अर्हत् लोग सत्य मार्ग के अनुसरण से प्राप्त करते हैं। यह स्वतन्त्र, सत् और नित्य है।

यह आकाश की तरह अनन्त, अपरिमित तथा अनिर्वचनीय है। यह भावरूप है। 'मग्न' के अनुसरण करने से सास्त्रधर्मों का नाश होने पर इसकी प्राप्ति होती है। स्थविरवादियों ने इसे एक प्रकार से असंस्कृत धर्म में ही अन्तर्भूत कर लिया है।

सौत्रान्तिक संप्रदाय :

पूर्व में सौत्रान्तिक लोग वैभाषिकों के साथ-साथ स्थविरवाद सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे, किन्तु दृष्टिकोण के भेद के कारण पश्चात् ये लोग एक दूसरे से पृथक् हो गये। कहा जाता है कि सौत्रान्तिकों को विश्वास हो गया कि बुद्ध के साक्षात् उपदेश 'सुत्तपिटक' में है। अतएव ये लोग सुत्तपिटक के अनुगामी हो गये और तदनुकूल अपना नाम भी रख लिया। 'अभिधम्मपिटक' तथा 'विभाषा' में इन लोगों को श्रद्धा नहीं रही।

इस मत का साहित्य बहुत ही अल्प मिलता है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' आदि अन्य ग्रंथों में 'वाह्यार्थ की अनुमेयता' के सम्बन्ध में इनके मत का उल्लेख है। उसके आधार पर निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है।

तत्त्वविचार :

सौत्रान्तिकों का कहना है कि निर्वाण असंस्कृत धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि यह मग्न के द्वारा उत्पन्न होता है और यह असत् है, अर्थात् यह क्लेशों का अभाव स्वरूप तथा कषायों का भाषास्वरूप है। दीपक के निर्वाण के समान ही यह भी 'निर्वाण' है। इस अवस्था में धर्मों का धन्यवाद रहता है। इस पद पर पहुँच कर साधक उस आश्रय की प्राप्ति करता है जिसमें न कोई क्लेश हो और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति ही हो। यथा - अग्नि का निर्वाण है, तथा चेतोविमुक्ति है। अग्नि का निर्वाण अग्नि का अत्ययमात्र है। यह द्रव्य नहीं है। लेकिन संदर्भ से मालुम होता है कि अग्नि का निर्वाण अग्नि का अभाव नहीं है। यह निरुपधिशेष निर्वाण ही निर्दिष्ट है।

इनका कहना है कि उत्पन्न होने के पूर्व तथा विनाश होने के पश्चात् 'शब्द' की स्थिति नहीं पाता इसलिए यह अनित्य है।

स्वभावतः सत्ता को रखने वाले दो वस्तुओं में 'कार्य-कारणभाव' ये लोग नहीं मानते।

'वर्तमान' काल के अतिरिक्त 'भूत' और 'भविष्यत्' काल को ये लोग नहीं मानते।

इनका कहना है कि दीपक के समान 'ज्ञान' अपने को आप ही प्रकाशित करता है। यह अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। ये 'स्वतःप्रामाण्यवादी' हैं।

इनके मत में 'परमाणु' निरवयव होते हैं। अतएव इनके एकत्र संघटित होने पर भी ये परस्पर संयुक्त नहीं होते और न इनका परिणाम ही बढ़ता है, प्रत्युत इनमें 'अणुत्व' ही रहता है।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि जो कुछ है, वह हेतु-प्रत्ययजनित है; अर्थात् वह संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, हेतु-प्रभव है। संस्कृत संस्कार भी है। यह अन्य संस्कृतों का उत्पाद करता है। - हेतु फल - परंपरा के बाहर कुछ भी नहीं है। यह परंपरा प्रवृत्ति, संसार है। निर्वाण केवल क्लेश - जन्म का अभाव है।

वैभाषिकों की तरह ये 'प्रतिसंख्यानिरोध' तथा 'अप्रतिसंख्यानिरोध' में विशेष अन्तर नहीं मानते। इनका कहना है कि 'प्रतिसंख्यानिरोध' में प्रज्ञा के उदय

होने से भविष्य में उस साधक को कोई भी क्लेश नहीं होगा। क्लेशों का नाश हो जायेगा। 'अप्रतिसंख्यानिरोध' का अभिप्राय है कि क्लेशों का नाश होने पर पुनः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी और भवचक्र से वह साधक मुक्त हो जायेगा।

वैभाषिक-मत में जिस जगत् का इन्द्रियों के द्वारा हमें अनुभव होता है वह उसकी 'बाह्यसत्ता' है। इसका हमें प्रत्यक्ष और कभी-कभी अनुमान से भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस जगत् की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है; साथ ही साथ हमारे अन्दर चित्त तथा उसकी सन्तति की भी स्वतन्त्र 'सत्ता' है। अर्थात् जगत् एवं चित्तसन्तति दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से वैभाषिक-मत में मानी जाती है। यह सत्ता प्रतिक्षण में बदलती रहती है, अर्थात् ये लोग 'क्षणभंगवाद' का स्वीकार करते हैं। वस्तुतः 'क्षणभंगवाद' को तो सभी बौद्ध मानते हैं।

सौत्रान्तिकों का कथन है कि 'बाह्य-सत्ता' तो है अवश्य, किन्तु इसका ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, नहीं होता। 'चित्त' में स्वभावतः कोई आकार बौद्ध नहीं मानते। यह शुद्ध और निराकार है। किन्तु यह 'चित्त' में आकारों की उत्पत्ति तथा नाश होता ही रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म तो हैं नहीं। ये हैं बाह्य जगत् की वस्तुओं के 'आकार'। इस प्रकार चित्त के आकारों के द्वारा 'बाह्य-सत्ता' का ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है, यह 'सौत्रान्तिकों' का मन्तव्य है। वैभाषिकों की तरह 'क्षणभंगवाद' को ये भी मानते हैं।

सौत्रान्तिक-मत में सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी हो गयी।

योगाचार के मत में 'बाह्य-सत्ता' का सर्वथा निराकरण किया गया है। इनके मत में 'चित्त' में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है। ये 'विज्ञान' परस्पर भिन्न होते हुए भी संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, परन्तु फिर भी सभी स्वतन्त्र हैं। ये 'विज्ञान' स्वप्रकाश हैं। इनमें अविद्या के कारण ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय के भेद की कल्पना हम कर लेते हैं। इस मत में बाह्य जगत् की सत्ता नहीं है। ये लोग केवल चित्त की सन्तति की सत्ता को मानते हैं और सभी वस्तुओं को ज्ञान के रूप कहते हैं। इन के मत में यह विज्ञान या 'चित्त-सन्तति' क्षणभंगिनी है।

इस प्रकार क्रमशः बाह्य जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता, पश्चात् अनुमेय-सत्ता, तत्पश्चात् बाह्य जगत् का निराकरण और सभी वस्तु को विज्ञान-स्वरूप मानना, इस प्रकार क्रमिक अन्तर्जगत् की तरफ तत्त्व के यथार्थ अन्वेषण में बौद्ध लोग लगे थे।

अन्त में विज्ञान का भी निराकरण शून्यवाद-मत में किया गया। इस प्रकार बाह्य और अन्तःसत्ता दोनों का शून्य में विलयन कर दिया गया। यह शून्य एक प्रकार से अनिर्वचनीय है। यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है तथा सत् और असत् दोनों स्वरूप शून्य के गर्भ में निर्वाण को प्राप्त किये हुए हैं। यह अभावात्मक नहीं है एवं अलक्षण है।

इस तरह बौद्ध संप्रदायों ने जगत् के स्वरूप के बारे में गहन चिंतन किया है, लेकिन गौतम बुद्ध ने अपने आप कार्य-कारण के संदर्भ में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को ही तत्त्व की दृष्टि से प्रतिपादित किया है और हीनयान संप्रदाय में इसे ही ज्यादा महत्त्व दिया गया है।

यहाँ कार्य-कारण की चर्चा अति सूक्ष्म तरीके से हुई है, अतः प्रतीत्य समुत्पाद में तथता, वितथता, अनन्यता और इन्द्रिय-प्रत्यता का वर्णन भी है। किसी एक वस्तु की उत्पत्ति के लिये, जितने प्रत्यय आवश्यक है, उससे न ज्यादा और न कम प्रत्यय होने से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। उसे अवितथा कहते हैं। किसी एक वस्तु की प्रत्यय सामग्री से दूसरी वस्तु की संभव नहीं है। जैसे गेहूँ की प्रत्यय सामग्री से चावल प्राप्त नहीं हो सकते। यह प्रतीत्य समुत्पाद की अनन्यता है। और कारणसामग्री और उनके कार्य के बीच - इसके होने से यह होता है, ऐसा जो संबंध है, वह इसकी इदं प्रत्ययता है। इससे उपरांत प्रतीत्य समुत्पाद तीनों काल, पांच संधि और अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग के साथ भी संबंधित है।

यह सिद्धान्त ही बौद्ध तत्त्वदर्शन के साररहस्यरूप है।

संदर्भ ग्रंथ

१. भारतीय दर्शन - ले. न.कि.देवराज
२. बौद्ध धर्मदर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव
३. बौद्धदर्शन - एम. के. भट्ट
४. भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र

विशुद्धिमग्ग : बौद्ध धर्म का विश्वकोश

आचार्य बुद्धघोष विरचित 'विशुद्धिमग्ग' - 'विशुद्धि मार्ग' पालि साहित्य का अमूल्य ग्रंथरत्न है। भारतीय दार्शनिक साहित्य में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के विविध सिद्धांतों के बारे में गहन चिन्तन करके उनका सुष्ठु ढंग से विशद परिचय दिया है। उन्होंने विशुद्धिमग्ग में गौतम बुद्ध के उपदेश वचनों की विशद रूप से व्याख्या की है। इस ग्रंथ में बौद्ध दर्शन का इतना सांगोपांग और समग्रलक्षी निदर्शन हुआ है कि उसे 'बौद्ध धर्म का विश्वकोश' कहा जाता है।

ग्रंथ कर्ता :

जैसे हम जानते हैं विशुद्धिमग्ग के रचयिता आचार्य बुद्धघोष है। उनके जीवन विषयक जानकारी चूलवंस, बुद्धघोसुप्पत्ति, गंधवंस, सासनवंस और सद्धम्मसंगह से प्राप्त होती है। उनका जन्म ब्राह्मण कुटुंब में हुआ था और बाल्यावस्था से ही शिल्प और तीनों वेदों में पारंगत होकर अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करते रहते थे। बौद्ध आचार्य रेवत के साथ चर्चा में पराजित होने के बाद वे बौद्ध धर्म में प्रवृत्त हुए। उनकी आवाज तथागत के जैसी धीर-गम्भीर होने से उन्हें बुद्धघोष कहते थे। उनका समय ई.स. की चौथी-पाँचवी शताब्दी का माना जाता है।

बुद्धघोष पालि साहित्य के युगविधायक है। गुरु-आज्ञा से सिलोन जा कर उन्होंने सिंहली अट्टकथा और अन्य साहित्य का पालि में अनुवाद किया। 'विशुद्धिमग्ग' के उपरांत त्रिपिटक के सभी ग्रंथों के विषय में उन्होंने अट्टकथा - अर्थकथाओं की रचना की। इससे यहाँ अर्थकथा-साहित्य की परंपरा का प्रारंभ हुआ। उनके साहित्य में बुद्ध के उपदेश वचनों का गहन, सूक्ष्म चिंतन से युक्त, सदृष्टांत निरूपण हुआ है। इनके ग्रंथों में बुद्धकालीन समाज और जीवन का तथा अपने युग का जीवंत चित्रण है, अतः संस्कृति के अभ्यास की दृष्टि से भी उसका नीजी महत्त्व है।

विशुद्धिमग्नः ग्रंथपरिचय :

विशुद्धिमग्न के कर्ता, जैसे हम जानते हैं - आचार्य बुद्धघोष है। और उसका रचना समय भी बुद्धघोष के समय के अनुरूप - ई.स. की चौथी-पाँचवी सदी के आसपास है।

रचनापद्धति और विषय वस्तु :

विशुद्धिमग्न में मुख्य तीन भाग हैं और तेईस परिच्छेद हैं। पहला भाग शील स्कन्ध है। इसमें दो परिच्छेद हैं। इसमें शील, गुण, प्रकार, प्राप्ति के उपाय और शील के महत्त्व का वर्णन किया है। तेरह धुताङ्गोंका यहाँ विशद निरूपण है। द्वितीय भाग समाधि स्कन्ध कहलाता है। इसमें इसे ३ से १३ तकके परिच्छेद में कर्मस्थानों की ग्रहणविधि, पृथ्वीकसिण, शेषकसिण, अशुभ कर्मस्थान, छह अनुस्मृति, अनुस्मृति कर्मस्थान, ब्रह्मविहार, आरूप्य, समाधि, ऋद्धिविधि तथा अभिज्ञाओ का वर्णन है। तीसरा भाग प्रज्ञास्कन्ध है। इसमें १४ से २३ परिच्छेद तक क्रमशः स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय-सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद, दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदा ज्ञानदर्शनविशुद्धि, ज्ञानदर्शन विशुद्धि तथा प्रज्ञाभावना का अति सूक्ष्म रूप से निदर्शन किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शील, समाधि और प्रज्ञा विशुद्धिमग्न का वर्ण्य विषय है। चित्त के राग-द्वेषादि समग्र कषायों का निरसन और शांतिपद निर्वाण की प्राप्ति का उपाय - बुद्धिशासन में इन तीन शिक्षायें - शील - समाधि और प्रज्ञा द्वारा निर्देशित किया गया है।

'विशुद्धिमग्न' की रचना के संदर्भ में यह कथा प्रचलित है। बुद्धघोष की योग्यता की परीक्षा करने के लिये सिंहल के बौद्ध भिक्षुओंने उनको 'अन्तो जटा-बहि जटा...' गाथा के बारेमें प्रश्न पूछा अतः बुद्धघोषने जो प्रत्युत्तर दिया, इसके फलस्वरूप विशुद्धिमग्न की रचना हुई -

अन्यथा यह भी विदित है कि विशुद्धिमग्न संयुक्तनिकाय में आयी दो गाथाओं के आधार पर रचित, बौद्ध योगशास्त्र का स्वतन्त्र मौलिक प्रकरण-ग्रन्थ है। इन दोनों में पहली गाथा प्रश्न के रूप में तथा दूसरी गाथा का ही आचार्य ने विसुद्धिमग्न के रूप में विस्तृत व्याख्यान किया है।

पहली गाथा है-

अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा ।

तं तं गोतम पुच्छमि-को इमं विजटये जटं ? 'ति ॥

एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे, उस समय किसी देवता ने आकार भगवान् से पूछा - अन्दर भी जञ्जाल (उलझन) है, बाहर भी जञ्जाल है, यह सारा संसार जञ्जाल से कैसे छुटकारा पा सकता है ? अर्थात् यह समग्र संसार भवबन्धन में जकड़ा हुआ है, कौन किस उपाय से इससे मुक्त हो सकता है ?

प्रत्युत्तर के रूप में दूसरी गाथा है -

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्जो चित्तं पञ्जं च भावयं ।

आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति ॥

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं - शील (सदाचार) में प्रतिष्ठित हो कर जो प्रज्ञावान् पुरुष जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तब वह उद्योगी तथा ज्ञानवान् पुरुष भिक्षु (त्यागी) हो कर इस जञ्जाल (भवबन्धन) को सुलझा लेता है ।

आचार्य ने भगवान् के इस उत्तर के सहारे समग्र बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन को एक निश्चित उद्देश्य में ग्रथित कर विशुद्धिमग्न की अवतारणा की है । वह निश्चित उद्देश्य है - साधना मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्टतम निर्देश । दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि विशुद्धिमग्न बौद्धयोग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध पद्धति से उपस्थित करने का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास है ।

विशुद्धिमग्न की विशेषता :

यह ग्रन्थ प्रधानतः योगशास्त्र का विशद व्याख्यान है, अतः इसमें योगाभ्यास में प्रवृत्त होनेवाले जिज्ञासु के लिये, प्रारम्भ से लेकर सिद्धि तक की समग्र विधियाँ तो क्रमबद्ध पद्धति से वर्णित की ही गयी हैं, साथ ही प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर बौद्धदर्शन की अन्य विवेचनात्मक गवेषणाएँ तथा ब्राह्मणदर्शनों की विशेषतः व्याकरण, न्याय, सांख्य, योग, आयुर्वेद तथा मीमांसा शास्त्रों की ग्रन्थियाँ भी अतीव सरल भाषा में समझा दी गयी हैं । अतः यदि विद्वान् लोग इस ग्रन्थ को 'बौद्धधर्म का विश्वकोष' कहते हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है । यह कहकर उन विद्वानों ने इस ग्रन्थ की तथा इसके रचयिता आचार्य बुद्धघोष की वास्तविक प्रशंसा की है ।

आचार्य बुद्धघोष भी अपने इस विशुद्धिमग्न को अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का केन्द्रबिन्दु मानते थे, अतः वे अपनी अट्टकथाओं के मनन-चिन्तन करने वाले पाठक से यह उपेक्षा रखते थे कि वह सर्वप्रथम 'विशुद्धिमग्न' पढ़े । इसलिये उन्होंने

अपनी आगे की अट्टकथाओं के प्रारम्भ में ही बार-बार कहा है - 'चारों निकायों (दीघ, मज्झिम, संयुक्त तथा अंगुत्तर) के मध्य स्थित यह विसुद्धिमग्ग उन निकायों के बुद्ध सम्मत अर्थ को प्रकाशित करने में सहायक होगा।'

इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि आचार्य ने पहले विसुद्धिमग्ग की रचना की, बाद में उक्त चारों निकायों की अट्टकथाओं की। इसीलिये विसुद्धिमग्ग में जिस विषय का विस्तृत निरूपण कर दिया है उसे पुनः उन अट्टकथाओं में नहीं दुहराया।

आचार्य बुद्धघोषने साधकों के कल्याण के लिये ही योगशास्त्र के मार्गदर्शन के रूप में इस ग्रंथ की रचना की है। विषय समझने में दुर्बोध लगता है, लेकिन शैली सूत्रात्मक और भाषा सरल है। बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का विशद् परिचय प्राप्त करने के लिये यह ग्रंथ अनेक दृष्टि से उपयोगी है।

संदर्भ ग्रंथ

१. पालि साहित्य का इतिहास - श्री भरतसिंह उपाध्याय
२. पालि साहित्य का इतिहास - श्री राहुल सांकृत्यायन
३. विसुद्धिमग्गो - संपा. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री

गुजराती साहित्य में बौद्धदर्शन का प्रभाव

तथागत बुद्ध की करुणा, अहिंसा और जगत के दुःखों के शमनके लिये किये गये महाभिनिष्क्रमणसे अर्वाचीन कविकी चेतना निःसंशय प्रभावित हुअे बीना नहि रह सकती - और जब कि आज विश्व के सब लोग यंत्रसंस्कृति की यंत्रणा और हिंसा-प्रतिहिंसा की आग में दौर्मनस्य का निरंतर अनुभव करते हैं ।

अर्वाचीन गुजराती काव्य-साहित्य में गौतम बुद्ध विषयक और उनकी विचारधारा से प्रभावित अनेक काव्य उपलब्ध हैं । श्री नरसिंहराव दिवेटियाने 'बुद्धचरित' काव्य में, गौतम बुद्ध का जीवन निरूपित किया है । अन्य काव्यों की तुलना में सुंदरम् के बुद्धविषयक काव्य भाषा और काव्यतत्त्व की दृष्टि से सफल और सविशेष उल्लेखनीय रहे हैं । 'बुद्धना चक्षु' काव्य में उनका प्रेमपूर्ण कारुण्यसभर व्यक्तित्व तादृशरूप से प्रगट हुआ है -

भले उग्यां विश्वे नयन नमणां अे प्रभु तणां,
ऊग्यां ने खिल्यां त्यां किरणकणी आछेरी प्रगटी,
प्रभा त्यां फेलाई जगत पर दिव्या मुद तणी,
हसी सृष्टि हासे दल कमलनां फुल्ल बनियां.

भगवान बुद्ध के नयन इस विश्व में धीरे धीरे खुल रहे हैं । नेत्र में से प्रगटती हुई ज्योति दिव्य आनंद की अनुभूति करती है । कवि उन्हें हृदय से आवकार देते हैं । उनके आने से सारी सृष्टि प्रसन्न हो ऊठी है ।

आगे कवि कहते हैं कि और सभी अवतार में प्रभुनें अधर्म-नाश के लिये कोई न कोई शस्त्र का उपयोग किया है । जैसे कि कोदण्ड, परशु, चक्र आदि - अंततः नख और दंत का भी उपयोग किया है । लेकिन बुद्धावतार में उनके करुणापूर्ण नेत्र ही अपने आप शांति स्थापनाके लिये परिपूर्ण और अवतार के हेतु को सफल

करने में स्वतः ही समर्थ रहे हैं ।

‘प्रभो जन्मे जन्मे कर धरी कई शस्त्र ऊतर्या,
नखाग्रे दंताग्रे दमन करियुं शब्द छलथी,
सज्युं के कोदण्ड, ग्रही परशु चक्रे चित्त धर्युं,
तमे आ जन्मे तो नयनरस लेई अवतर्या।’

‘त्रिमूर्ति’ काव्य में बुद्ध के जीवनदर्शन का और लोकसंग्रहार्थ समर्पित जीवन का अहोभाव पूर्ण निरूपण है :

धरी आ जन्मेथी प्रणयरसदीक्षा, तडफत्तुं
हतुं जे संतापे जगत दुखियुं, क्लिन्न रहेतुं
लई गोदे भार्युं हृदयरसनी हूफ महींने
वद्या ‘शांति’ व्हालां, रुदन नहि बुद्धी दुःख तणी.

प्रबोद्या धैर्ये ते विरल सुखमंत्रो, जगतने
निवार्युं हिंसाथी, कुटिल व्यवहारे सरळता
प्रचारी.....

प्रभो तारा मंत्रो प्रगट बनता जे युगे युगे,
अहिंसा केरो आ प्रथम प्रगटयो मंत्र जगते ।

आज जब चारों ओर युद्ध का आतंक छ गया है तब “नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध” - वेरसे वेर का शमन कभी नहि हो सकता - “अवेरेन च सम्मन्ती” - अवेरसे ही वेरका शमन होता है - यह बुद्ध का उपदेश सबको यथार्थ अनुभूत होने लगा है । प्रत्येक युगने उनके अहिंसा और मैत्रीभावना के मंत्रको याद किया है । मानवजीवन के दुःख के नाश के लिये भी उन्होंने मार्ग बताया - तृष्णा का नाश और मन की शांति !

श्री सुंदरजी बेटाइ ने ‘सिद्धार्थनुं स्वप्न’, ‘शस्त्रसंन्यास’ आदि काव्य दिये हैं । हरिश्चंद्र भट्ट के काव्य - ‘बुद्धनुं चित्र दोरतो अजंतानो कलाकर’ - में बुद्ध के करुणासभर नेत्र मूर्तिमंत हो उठे हैं ।

शाक्य राजपुत्र सिद्धार्थ से तथागत बुद्ध बनकर उन्होंने जगत के कल्याण के लिये जीवन समर्पित किया । कवि जशभाई पटेलने उनके प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त को ‘भगवान बुद्ध’ काव्य में निरूपत किया है । आज बार बार जब चारों

और हिंसा के दलबादल घिरे हुए दिखाई पड़ते हैं तब कवि भगवान बुद्ध को पुनर्जन्म के लिये और अहिंसा के मंत्रका पुनः प्रबोधन करने के लिये प्रार्थना करके अंत में कहते हैं -

रहो सदा शान्ति, न को दी युद्ध,
सिद्धार्थ हे, हे भगवान बुद्ध !

उन्हीं के अेक काव्य में भगवान बुद्ध और अेक किसान के बीच में जो संवाद हुआ था- उसी कथा का आलेखन किया गया है। किसान को अपने कार्य का परिचय भगवान बुद्ध-किसान की ही भाषामें - इस तरह देते हैं-

श्रद्धा तणां बी, वरसाद अेना
परे सदाचार तणो थतां तो
प्रज्ञाफळो मानसक्षेत्रे फूटे.
कुकर्मलज्जा हळदंड मारो
जे बांधियो छे मनोदोरथी में.
स्मृति चाबुक मारो ने स्मृति छे हळनुं फळ,
विश्रान्ति शान्ति छे मारी, सत्य अे मुख नींदण.
उत्साहरूपी. बळदो वडे हुं
मारुं चलावुं हळ नित्य प्रीते,
निर्वाण केरी दिशा खेडतो हुं,
खेडूत हुं, खेडूत सर्व रीते. -

बुद्ध कहते हैं - "मेरे मानसक्षेत्रमें श्रद्धा के बीज मैं बोता हूँ, उस पर सदाचार की बारिश होने से प्रज्ञारूपी फल उत्पन्न होते हैं। कुकर्मलज्जा मेरा हळदंड है, जिसे मैंने मनोदोरसे बांधा है। स्मृति ही चाबुक है और स्मृति ही हलका फला है। विश्रान्ति शान्ति ही मेरे लिये विश्रान्ति है और सत्य नींदण है, अर्थात् सत्यरूपी अन्न मैं पाता हूँ। उत्साहरूपी बैलों से मैं हळ जोतता हूँ। निर्वाण की दिशा में खेडता हूँ। मैं सर्व प्रकार से खेडूत - खेडूत ही हूँ।"

कवि नाथालाल दवे ने 'यशोधरा' काव्य में माता-पिता, पत्नी-पुत्र और राज्य की सर्व समृद्धि को छोडकर विश्व के कल्याणार्थ महाभिनिष्क्रमण करनेवाले भगवान बुद्ध के हृदयतल में बहती हुई मानव प्रेम की अक्षत धारा को इस तरह तादृश की है -

रोके अने क्यम परिजने ? मातनां अश्रुबिंदु ?
 हैये जेने जगतभरनी वेदनानो हुताश ?
 बांधे अने क्यम तनय के पत्नीनो स्नेहपाश ?
 रत्ने राज्ये विभव मही शें अेनुं रोकाय ध्यान ?
 व्हालुं जेने जनहृदयना राजवी केरुं स्थान ?
 हैये जेने पुनित प्रगटयुं विश्वकारुण्यगान ?

युद्ध के आतंक से त्रस्त समाजमें शांति की पुनस्थापनाके लिये उमाशंकर जोषी 'बारणे बारणे बुद्ध' के दर्शन के लिये उत्सुक बनते हैं। तो अति आधुनिक समय में निज युद्ध की वृत्ति के प्रति विरल उपेक्षा का भावने यशवंत त्रिवेदी के काव्य में अभिव्यक्ति पाई है।

आज सारे विश्व के लोग जब रौद्र स्वार्थमें निमग्न है तब श्री रमणलाल देसाईने तथा कथित अहिंसा और विश्वव्यापी मानवप्रेम की ओर इस तरह अंगुलीनिर्देश किया है - 'मानवीने युद्ध न शोभे-', 'जगतमांथी वेर, झेर, क्रोध के खून अदृश्य थवां ज जोईअे, सर्जनमां संहार न होय-' तथा 'आखुं जगत मित्र बने-'.... ! 'क्षितिज' नवलकथा में 'सारे जगत को बौद्ध धर्म का स्वीकार करना चाहिये- ऐसा स्पष्ट सूचन उन्होंने किया है; बौद्ध धर्म का मार्ग अर्थात् अेकमेव अहिंसामय धर्म, अर्थात् परम शान्ति, निर्वाण के मार्ग पर सहजभावसे प्रयाण-' !

बौद्ध धर्म की इस मंगलमयता को परिचय देने के साथ नवलकथाकारने महा समर्थ बौद्ध तान्त्रिक विश्वघोष के आलेखन द्वारा इस धर्म की अवनतिकी ओर भी ईशारा किया है।

राष्ट्रव्यापी अहिंसक स्वातंत्र्यलडत द्वारा गांधीजीने सारे मानवसमाज को जागृत किया। शांति एवं, प्रेमभाव का मूल्य साहित्य द्वारा भी समाज में व्यापक होने लगा। श्री रमणलाल देसाईने 'प्रलय' नवलकथा में युद्ध की भयंकर विनाशकताका तादृश निरूपण कर के युद्धविराम की अनिवार्यता प्रति निर्देश किया। 'ग्रमलक्ष्मी' में कथानायक अश्विन प्रेम और विश्वास से महेरू जैसे निमना बहारवटिया का हृदयपरिवर्तन करता है। 'भरिलो अग्नि' नवलकथासे कथा के मुख्य पात्र रुद्रदत्त की अेक ही आकांक्षा है - "दुनियाने शस्त्ररहित करवी, अथवा दुनियामांथी चाल्या जवुं" - उनका एक मित्र ही उन पर गोली चलाता है। मृत्यु उनके सामने आ जानी है तब वे अपने - शस्त्रास्त्र के उपयोग में निपुण सशक्त युवान शिष्य से कहते हैं - "दीकरा, पण तेर के कोई दिवस हथियार न झालवुं" - 'अवेर रो ही वरेका

शलन होता है- ' इस सत्य का प्रतिपादन करता हुआ ।

बौद्धमत अनुसार पारमिता आत्मशक्ति की परम चेतना है । यशवंत त्रिवेदी का काव्य - 'पारमिता' में कल्पन, पुराकल्पन और प्रतीकों की संकुलता है । तब भी परम अर्थ प्राप्त करने के लिये तत्पर कवि हृदय का भीतरी भाव भी उस में मुखरित हो उठा है, जिस में बौद्धदर्शन का स्पष्ट प्रभाव है । बोधिवृक्ष के नीचे स्थित भगवान बुद्ध के तत्त्वदर्शन का शून्यवाद और क्षणिकवाद का अतः उसके संदर्भ में प्रति 'जन्म' की वास्तविकता का मर्म "चीनी रेशमी पाणीना परपोटामांथी नीकळी" - अर्थात् सब तरह की सांप्रदायिकता में से मुक्त होने के बाद ही हम पा सकते हैं । इनकी कई पंक्तियाँ इस संदर्भ में ध्यानार्ह हैं -

- 'मारे कोई दुश्मनो नथी-' (अवैर)
- 'जे कोई पण मानवीने तिरस्कारे,
ते आंजथी कविता न लखे....' (मैत्री और करुणा)
- 'पण राघव अेटलुं जोजो के
अश्वमेघ यज्ञ काले धडधडाटची
तमारा अश्वोनी खरीओ
हवे वागे नहि आ रंक धरतीने के नक्षत्रोने-'

- (यज्ञ में हिंसा का प्रतिबंध)

उनकी कविता का स्थायी भाव करुणामूलक शाश्वती वेदना है । शास्त्र के शासन से कितना प्रभावित है यह कवि-इसका परिचय इन पंक्तियों मिलती हैं -

'बोधि गयाना वृक्षनी घेर घटा लई
लक्ष लक्ष योजन लगी
फट फट विस्तरी जइश त्यारे-'

बोधिवृक्ष की डाली ले कर पुनः लक्ष लक्ष योजन तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने की महद् आकांक्षा यहाँ व्यक्त की है ।

रुद्रदत्त के दर्शक की नवलकथा दीपनिर्माण में मृत्यु समय का यह संवाद बड़ा मार्मिक है - त्र्यंबक-रुद्रदत्तका शिष्य उन्हें प्रत्युत्तर देता है-

'... मारा गुरु पर... हाथ उपाडनारनो संहार करीने... हुं शस्त्र वेगळुं मूकी दइश...'

'जा घेला, रुद्रदत्तनुं तर्पण वेर लईने थाय ?'

‘त्यारे शी रीते थाय ?’

‘हाथमांथी शख्ख त्यजीने अने मनमांथी झेर त्यजीने. अे पण ले ले, ते मारा देहने अग्निदाह करे; अे पण लेनार कोई न मळे तो मारा देहने अेमनो अेम छोडी देजो...’

रुद्रत्त का कहना है कि अहिंसा का पूर्ण रूपसे पालन करनेवाला ही उनके देह का अग्निदाह कर सकता है। बौद्धदर्शन के संदर्भ में भी उनके शब्द मननीय हैं।

मनुभाई पंचोळी - ‘दर्शक’ की नवलकथाओं ‘झेर तो पीधां छे जाणी जाणी’ के बारे में श्री डोलरराय मांकडने बताया है कि बौद्ध धर्म के महायान पंथ में वर्णित चार ब्रह्मविहार - मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के आधार पर ही यह नवलकथा का रचनासंविधान हुआ है। व्यक्ति और समष्टि के विकास के लिये ये चार सोपान हैं। मैत्री, करुणा और मुदिता के अनेक दृष्टान्त यहाँ मिलते हैं लेकिन उपेक्षा का यह भाव जो सत्यकाम के शब्दों में प्रगट हुआ है, वह बड़ा मार्मिक है। शारीरिक रोग का दर्द वह सह नहीं पाता है और नदी में डूबने के लिये जा रहा है तब वह कहता है- “मोतनी नजीक तो हुं अवारनवार गयो छुं, पण ते दिवसे ते निर्भयता हती ते ताळे विरल हती. हुं खाळे कोई बीजाने डूबतो जोई रह्यो हतो. तेमां ताळे जेवानो आनंद आवतो हतो-” वह किसी और को डूबता देख रहा था - अपने प्रति संपूर्ण अनासक्त हो गया था। उपेक्षावृत्ति का यह स्पष्ट दृष्टान्त है।

भगवान् बुद्ध के जीवन और विचारधारा से प्रभावित रथन्यु कहता है : “बुद्ध ! अहोहो ! शुं महाप्रज्ञ पुरुष ! विस्तीर्ण महावृक्ष ! अेमनी विरलता ए छे के तेओ जगतनो स्वीकार पण करे छे ने अस्वीकार पण करे छे ! हुं धारुं छुं के बुद्ध ए पहेला महापुरुष छे जेमणे दुनियानां सुखोनो समूळ्णो नकार कर्यो नथी. छतां दुन्यवी सुखोनी पाछळ पडीने तेने दुःखमां पलटी नाखवा सामे पण तेमणे चेतवणी आपी छे.... मध्यम मार्गनी वात साची छे... लोकोने संपूर्ण विरोध पण समजाय छे अने संपूर्ण शरणागति पण स्वीकार्य बने छे... परंतु आंशिक स्वीकार अने आंशिक अस्वीकार तेमने समजातां नथी.

गौतम बुद्ध के मध्यम मार्ग का महत्त्व यहाँ समझाया गया है।

गुजराती साहित्य में तथागत बुद्ध की विचारधारा का प्रभाव अन्यत्र भी देख सकते हैं। यहाँ तो कतिपय दृष्टान्तों द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रभाव की थोड़ी सी झलक बतानेकी कोशिश ही की है।

नारीवादी आंदोलन और भारत में महिलाओं की स्थिति (बुद्ध-गांधी के विचार के संदर्भ में)

नारीवाद की कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो हर समय और हर स्थान पर लागू की जा सके।

नारीवाद की परिभाषा और इसका रूप समाज व समय के अनुसार बदलता रहता है। इसका मतलब और इसका रूप समाज की संस्कृति, वहाँ की आर्थिक, सामाजिक सच्चाइयों व लोगों की समझ और चेतना पर निर्भर करता है। जिस प्रकार पानी उसी बर्तन का आकार ले लेता है, जिसमें उसे डाला जाता है, उसी तरह नारीवाद भी स्थानीय हालातों और मुद्दों के अनुसार खुद को ढाल लेता है। इसका अर्थ है कि सत्रहवीं शताब्दी में "नारीवाद" का (जब फैमिनिज्म का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया) एक विशेष अर्थ था तो सन् २००० में इसका कुछ बिल्कुल ही भिन्न अर्थ है।

लेकिन फिर भी आज के समय में नारीवाद की दो परिभाषाएँ हैं जिन्हें दो दक्षिण एशियाई स्तर की कार्यशालाओं में, बंगलादेश, भारत, नेपाल, पाकिस्तान व श्रीलंका की औरतों ने माना। पहली परिभाषा है - "समाज में, काम के स्थान और परिवार में होनेवाले स्त्रियों के दमन व शोषण के प्रति विरोध का भाव तथा स्त्रियों व पुरुषों द्वारा इन परिस्थितियों को बदलने की दिशा में जागरूक सक्रियता।" दूसरी परिभाषा, जो कि ज्यादा सुनिश्चित है, के अनुसार - "पितृसत्तात्मक नियंत्रण व परिवार, काम की जगह व समाज में, भौतिक व वैचारिक स्तर पर औरतों के काम, प्रजनन और यौनिकता के दमन व शोषण के प्रति जागरूकता, तथा स्त्रियों व पुरुषों की इन मौजूदा परिस्थितियों को बदलने की दिशा में सभान सक्रियता ही नारीवाद है।"

नारीवाद की मुख्य धाराएं हैं - उदारवादी नारीवाद (Liberal Feminism), अतिवादी नारीवाद (Radical Feminism), मार्क्सवादी नारीवाद (Marxist Feminism), समाजवादी नारीवाद (Socialist Feminism), पर्यावरण से जुड़ा नारीवाद (Eco Feminism), इसके अलावा सांस्कृतिक नारीवाद (Cultural Feminism), इस्लामी नारीवाद (Islamic Feminism), व गांधीवादी नारीवाद (Gandhian Feminism) भी सुनने को मिलते हैं। ये सभी नारीवाद औरतों की बेहतरी की बात करते हैं, साथ ही यह मौजूदा स्थिति का विश्लेषण करके, उसके कारणों को समझकर, उसे सुधारने के लिए वचनबद्ध हैं।

भारत में नारीवाद का प्रभाव पश्चिमी देशों की देन माना जाता है लेकिन हमारे देश व समाज में स्त्रियां शोषण व दमन की शिकार हैं तो फिर इस शोषण व दमन के खिलाफ उठाई जानेवाली आवाज को हम कैसे "पश्चिमी" या "विदेशी" कह कर नकार या दबा सकते हैं? जहां पर औरत को बराबरी का दर्जा हासिल नहीं है वहां पर नारीवाद के बीज जरूर मौजूद होंगे। मौजूदा पाते ही ये बीज पनपने लगते हैं। शब्द के रूप में नारीवाद चाहे विदेशी हो परन्तु प्रक्रिया के रूप में इसकी धारणा विदेशी नहीं है।

स्त्रियों से सम्बन्धित बहस हमारे देशों में बहुत पुरानी है। उदाहरण के लिए ईसा से उठी शताब्दी पूर्व गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों के बीच स्त्रियों का भिक्षुणी बनने या न बनने देने से सम्बन्धित बहस चली थी। बुद्ध ने यह कह कर इंकार कर दिया की अभी संघ में औरतों को शामिल करने का वक्त नहीं आया है। गौतमी, बुद्ध के साथी आनंद के पास गईं। उनसे तर्क किया कि जब पुरुषों को दीक्षा दी जा सकती है तो औरतों को क्यों नहीं? आनंद के समझाने पर बुद्ध ने अपने वरिष्ठ भिक्षुओं से विचार-विमर्श करने के बाद औरतों को दीक्षा देना मंजूर किया, मगर उन्हें पुरुष भिक्षुओं से निचला दर्जा दिया गया। आज २५०० वर्षों बाद भी कुछ धर्मों में स्त्रियों को समानाधिकार नहीं है। इस हकीकत के अनुसार गौतमी का यह संघर्ष एक सक्रिय नारीवादी कदम था जिससे धर्म में औरतों के दर्जे में बुनियादी बदलाव आया। तब से अब तक काफी पुरुषों और स्त्रियों (जैसे - मीरा बाई, रानी लक्ष्मीबाई, रजिया सुल्तान, रूकैया बेगम, राजा राममोहनराय, सावित्री फुले व ज्योतिबा फुले) ने पितृसत्तात्मक मापदण्डों को चुनौती दी है। हमारी राय में नारीवाद को बाहरी विचारधारा कहना हमारी अज्ञानता दर्शाता है और हमारी उस संस्कृति को अपमानित करता है, जो सदियों से पितृसत्तात्मक सोच और ढांचों

को चुनौती देती रही है। लेकिन गौतम बुद्ध के बारे में यह बात भी सही है कि समाज में स्त्रियों के सम्माननीय दरज्जा का उन्होंने स्विकार किया। राजा प्रसेनजित को पुत्री जन्म से खिन्न होते हुए देख कर उन्होंने कहा था कि 'हे राजा, पुत्री भी श्रेय करनेवाली होती है, इस लिये तुम पुत्री का पालन भी पुत्र की तरह करो' और 'स्त्रियों ही पुरुषों की सर्वश्रेष्ठ मित्र बनती है।' - (संयुक्त निकाय)। आधुनिक समयमें महात्मा गांधीजीने स्त्री स्वतंत्रता और समानता की जोरदार हिमायत की, अलबत्त जैविक संरचना की असमानता के कारण उन्होंने दोनों के अलग कार्यक्षेत्रों का भी स्वीकार किया। उन्होंने कहा की स्त्रियों के लिये यह जरूरी नहि है कि वे कंधे पर बंधूक रखकर युद्धभूमि में जाये। स्त्री पुरुष दोनों अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं, दोनों में स्पर्धा की आवश्यकता नहीं है।

राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों में महिलाओं ने भारी संख्या में भाग लिया, अपनी आशाओं और आकांक्षाओं के साथ संख्यात्मक दृष्टि से तो उसे मजबूत बनाया ही, वे आंदोलन में अपने मुद्दे और मसविदे भी साथ लेकर आईं।

सन् १९२०-२२ में जब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो पहली बार महिलाएं भारी संख्या में आंदोलन में जुडी। मुंबई में महिलाओं ने राष्ट्रीय स्त्री सभा का गठन किया और वह पूरी तरह राष्ट्रीय एक्टीविज्म के प्रति समर्पित था। यह पहला महिला संगठन था जो बिना पुरुषों की मदद से चलाया जाता था। इसके दो उद्देश्य थे- स्वराज और महिलाओं का उद्धार एवं उत्थान।

इस अवधि में अन्य महिला संगठन भी बनें - जैसे देशसेविका संघ, नारी संत्याग्रह समिति, महिला राष्ट्रीय संघ, लेडीज पेकेटिंग बोर्ड, स्त्री स्वराज संघ और स्वयंसेविका संघ आदि। हम राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को देखते हैं तो वह उनकी घरेलू भूमिका का विस्तारमात्र ही दिखती है। इस भागीदारी में उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के समान कोई चुनाव या स्वतंत्र कार्य करने की गुंजाईश नहीं थी। आंदोलन में उनकी भागीदारी से न तो उनके घरेलू जीवन या पारिवारिक समीकरणों में कोई अंतर आया, न उनकी जीवन शैली में कोई परिवर्तन आया और न ही उनकी राजनीतिक भूमिका में कोई बदलाव आया।

हिंदू कोड बिल के पास होने से हिंदू महिलाओं की परिवार, विवाह तथा संपत्ति के क्षेत्र में स्थिति कुछ बेहतर हुई। हालांकि श्रम कानूनों में भी कुछ सुधार किए गए। लेकिन ये सभी कानून भी अपर्याप्त थे।

१९७० के दशक में देश के कई भागों में महिलाओं ने शराबखोरी के खिलाफ लड़ाई छेड़ी, यह मुद्दा ८० और ९० के दशकों में भी महत्वपूर्ण रहा। हरियाणा, आंध्र प्रदेश, तामिलनाडु, उत्तर प्रदेश, हिमाचल, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में यह विशेष रूप से चला। महिलाओं का कहना था की इससे परिवारों में वित्तीय संकट तो बढ़ता ही है, घरेलू हिंसा भी बेहद बढ़ती है। महाराष्ट्र के धूलिया जिले में महिलाओं को समर्थन मिला एक वामपंथी संस्था 'काश्तकारी संगठन' से, तो उत्तराखंड में नेतृत्व में थी गांधीवादी विचारधारा की कुछ महिलाएं। आंध्र प्रदेश में आंदोलन की आग 'संपूर्ण साक्षरता अभियान' (१९९०) के दौरान भडकी।

१९७० के दशक के प्रारंभ में बढ़ती महंगाई के खिलाफ आंदोलन छिड़ा। इसमें सबसे जोरदार आवाज महाराष्ट्र से उठी। इसमें भाग लेने वाली अग्रणी महिलाएं थीं समाजवादी पार्टी की मृणाल गोरे, मार्क्सवादी पार्टी की अहल्या रांगेकर तथा कई और राजनीतिक पार्टियों से जुड़ी महिलाएं। यह आंदोलन गुजरात में भी जोरों से चला, यहां इसे 'नवनिर्माण आंदोलन' का नाम दिया गया। भारी संख्या में छात्रों और घरेलू महिलाओं ने इसमें भाग लिया। एक्टीविस्ट भूख हड़ताल पर बैठे।

१९७४ में हैदराबाद में एक नया महिला संगठन 'प्रगतिशील महिला संगठन' बना। इसे कुछ कम्युनिस्ट महिलाओं ने मिलकर बनाया था। महाराष्ट्र में १९७५ में 'पुरोगामी महिला संगठन' बना जिसकी प्राथमिकता दलित महिलाएं और देवदासियां थीं। महाराष्ट्र में 'स्त्री मुक्ति संगठन' और 'महिला समता सैनिक दल' बने जिन्होंने दलित महिलाओं के मुद्दे उठाए।

इस तरह भारत में स्वायत्त महिला संगठनों की शुरुआत हुई। सन् १९७० और २००० के बीच अनेक स्वायत्त महिला समूह एवं संगठन बने। कुछ उल्लेखनीय संगठन हैं - मुंबई में 'फ़ेरेम अगेस्ट रेप', 'फ़ेरेम अगेस्ट अप्रेशन ओफ विमेन', दिल्ली में 'सहेली' : हैदराबाद में 'अस्मिता', बंगलौर में 'विमोचना' तामिलनाडु में 'पेनुरम्मा इयाक्कम', उत्तरप्रदेश में 'महिला मंच'।

उत्तराखंड के सुदूरपूर्व गांवों में ग्रामीण महिलाओं ने एक पर्यावरणीय नारीवादी आंदोलन चलाया जो 'चिपको' आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे सारी दुनिया ने पहचाना और सराहा।

'सेवा' ट्रेड यूनियन गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण अलग तरह से विकसित हुआ है। गुजरात में असंगठित श्रम के क्षेत्र की महिलाओं को संगठित करने का प्रयास इन्होंने किया है। इनसे लगभग ५० व्यावसायिक समूह

जुड़े है। सब्जी बेजने वाली, बोझा ढोने वाली, बीडी क्रमगार, हस्तकला उद्योगों में लगी महिलाएं आदि की बेहतर आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के लिए इन्होंने प्रयास किया है। तमाम छोटे-मोटे कामों में लगी महिलाएं सेवा से जुड़ीं।

महिला आंदोलन के प्रभावों व दबावों के कारण राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं के विकास और महिलाओं के सशक्तीकरण के मुद्दों को मुख्यधारा में लाने की कोशिश चल रही है। राष्ट्रीय महिला आयोग की स्थापना महिलाओं के साथ भेदभाव दूर करने और न्याय दिलाने के लिए हुई। गैर सरकारी संगठनों ने अपने सभी कार्यक्रमों में महिलाओं व लिंग के मुद्दों के महत्त्व को स्वीकार किया है।

परन्तु क्या यह संघर्ष आज के युग में भी संगत है? आखिर आज स्त्रियों को अनेक लोकतांत्रिक अधिकार मिल चुके हैं - शिक्षा, रोजगार, मताधिकार आदि। क्या अब भी नारीवाद की जरूरत है?

हां यह सच है कि पिछले दो सौ वर्षों में स्त्रियों ने बहुत से क्षेत्रों में काफी तरक्की की है। कुछ औरतों के लिये कुछ सामाजिक बन्धन भी कम हुए हैं। कई कानून भी बदले हैं। हमारे संविधान ने काफ़ि हद तक औरतों को बराबर का दर्जा दिया है, परन्तु इस सब के बावजूद आज भी लगभग हर देश और समाज में स्त्रियों को न समानाधिकार हैं; न पूरी आजादी। आज भी लगभग हर जगह पुरुष सत्ता का ही बोलबाला है। इसके कुछ उदाहरण देखें। ज्यों की कारखानों का मशीनीकरण और आधुनिकीकरण होता है स्त्रियों को नौकरी से निकाल कर मशीनें या पुरुष उनकी जगह ले लेते हैं। इसका सबसे खराब उदाहरण हमें भारत के कपड़ा उद्योग में देखने को मिलता है जहां हजारों औरतें काम से हटा दी गईं। कृषि में स्त्रियों ने हमेशा एक प्रमुख भूमिका निभाई है लेकिन फिर भी आमतौर पर उन्हें किसान भी नहीं माना जाता। कृषि विकास के नाम पर पुरुष किसानों का ही प्रशिक्षण हुआ, वे ही सरकारी समितियों के सदस्य बने, जमीन भी उन्हें ही मिली। औरतें काम करने को तो रह गईं हैं लेकिन उनके अधिकार, उनकी आवाज कम से कम होती गई है।

यह भी सच है कि कारखानें, खेत, बागान आदि में घण्टों महेनत करने के अतिरिक्त स्त्रियों को घरेलू काम भी करना पड़ता है जैसे खाना पकाना, सफ़ाई करना, पानी-इंधन लाना, बच्चे पालना आदि। इस प्रकार से स्त्रियां जीवन भर दोहरा कार्य, दोहरा बोझ और दोहरी पाली का काम झेलती रहती हैं अर्थात् वे सवैतनिक काम के (कार्यशक्ति के भाग के रूप में) बोझ के साथ-साथ अवैतनिक काम (घरेलू

काम) का बोझ भी उठाती हैं। इसी दोहरे बोझ के कारण उनके लिये बेहतर नौकरियाँ, बेहतर प्रशिक्षण हासिल करना अथवा व्यावसायिक सीढ़ी पर दूसरों से आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। शिक्षा के कम मौके मिलने की वजह से प्रायः कम तनखाह और कम दक्षता वाले काम ही स्त्रियों के हिस्से आते हैं। इस सब के बावजूद इसका कोई प्रमाण नहीं है कि स्त्रियाँ पुरुषों से कम उत्पादन करती हैं। कुछ लोगों का तो यह मानना है कि स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक काम करती हैं, क्योंकि वे काम लगन से करती हैं, चाय और सिगरेटबाजी कम करती हैं, यूनियन आदि के चक्कर में नहीं पड़ती हैं... आदि।

इस प्रकार के विकास और आधुनिकीकरण ने स्त्रियों पर होनेवाली हिंसा को बढ़ाया है। घरों में स्त्रियों की मारपीट, बलात्कार, बहुओं को जलाना आदि आदि आज पहले से ज्यादा हुए लगते हैं।

इसी कारण यह आवश्यक हो जाता है कि जहाँ कहीं विकास स्त्रियों के विरुद्ध जा रहा है, नारीवादी उसे ओर ध्यान दिलाएं तथा बेहतर नीतियों और कार्यक्रमों की मांग करें।

देश में औरत अगर बेआबरु नाशाद है
दिल पे रखकर हाथ कहिए देश क्या आजाद है ?

- (कमला भ सीन)

“औरतों की जिन्दगी कोख के अंधेरे से
कब्र के अंधेरे का सफर है।”

- (अमृता प्रीतम)

धर्म और विज्ञान का समन्वय

हमारे महा मनिषियोंने धर्म की परिभाषा देते हुए उसे इस तरह उजागर किया है : 'धर्मो ज्ञेयः सदाचारः ।' - सदाचार को ही धर्म जानो । हमारे ऋषि-मुनियों, और कृष्ण-बुद्ध-महावीर जैसे महामानवोंने आचार की एक सुदृढ भूमिका-नैतिक मूल्यों की महामूल्यवान धरोहर हमारे लिये प्रस्तुत की थी - जिस के आधार से हमारे जीवन शांतिपूर्ण, प्रगतिशील और सुसंवादी बन सके । विचार और आचार - ये मानवजीवन के दो पक्ष हैं । आचार जब विचार से समन्वित होता है, तब जीवन में विवेक प्रगट होता है । विवेकपूर्ण आचारण में ही मानवजीवन का श्रेय है । ये महामानवों ने राग, द्वेष, वैरभाव, हिंसा, स्तेय, कामाचार आदि कषायों का प्रहाण करने के लिये और समत्वयोग की साधना के लिये कई आचार विषयक नीति-नियमों का उपदेश दिया है । इस से प्रेरित होकर हम व्रत करते हैं, तप करते हैं, उपवास करते हैं, दान भी देते हैं - लेकिन हमें मालूम नहीं है कि हम वास्तव में इन सब आचारों का पालन क्यों करते हैं ? इससे हमें क्या मिलता है ? धर्म की व्यापक जीवन दृष्टि को हम नहीं समझ पाये - लेकिन तब विज्ञान की सहाय हमें मिल रही है और वह बताता है कि अहिंसा, आक्रोध, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह आदि से कैसे हमारा शरीर तंदुरस्त रहता है, मन शांत और प्रसन्न रहता है और हम सुख का अनुभव करते हैं - जो हमारे जीवन का एक लक्ष्य है ।

धर्मदर्शन ही औचित्य - अनौचित्य का बोध कराता है और शुभाशुभ के प्रतिमन को भी निश्चित कराता है । जैनदर्शन में आचरण को जीव का लक्षण और कर्म को संसार का मूल माना है । भगवद्गीता में कहा है कि जगत के प्राणी किसी भी क्षण क्रिया-कर्म से विरत नहीं होते हैं । बौद्ध विचारधारा के अनुसार तो क्रिया से भिन्न कर्ता का अस्तित्व ही नहीं है । हमारे कायिक-वाचिक-मानसिक आचारों अथवा कर्मों को नियंत्रित करना, औचित्य के मार्ग पर आगे बढ़ाना - यही

आचारदर्शन का - सदाचार प्रेरक धर्म का उद्देश्य है। धर्मशास्त्र प्रणीत हमारे सारे आचार की नींव है शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान। हम धर्म के मर्म तक पहुँचने की कोशिश करेंगे तो यह ज्ञान होगा कि हमारे सारे नैतिक मूल्यों वैज्ञानिक सत्य से ही प्रकाशित हैं। भारतीय ऋषि-महर्षियों के नैतिक उपदेशों की पवित्र धरोहर जिसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा एवं सतत साधना के अनुभवों से प्राप्त किया था, जो मानवजाति के लिये चिर सौख्य एवं शाश्वत शांति का संदेश लेकर अवतरित हुई थी, उसका हम सही मूल्यांकन नहीं कर सके।

संप्रदाय और धर्म का सही स्वरूप :

विज्ञान के विकास के साथ साथ आज विश्व के देशों का अंतर घटता जा रहा है। मनुष्य की दृष्टि भी व्यापक होने लगी है। आज किसी भी धर्मानुयायी अपने आपको ही सर्वश्रेष्ठ मानने की भूल नहीं कर सकेगा, नहीं करनी चाहिये। अलबत्त वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में आज धर्म संप्रदायों के रूप में विभाजित हो गया है और मनुष्य मनुष्य के बीच में संबंध जोड़ने की बजाय अलगता प्रस्थापित कर रहा है, अन्योन्य में श्रेष्ठता की स्पर्धा, तिरस्कार और वैरभाव बढ़ाता है। तथापि धर्म का त्याग करना अथवा विश्व में धर्म मात्र का अस्तित्व ही समाप्त कर देना - यह न तो संभवित है, न इच्छनीय। धर्मों का अन्योन्य विरोध करने के बजाय, साथ में रह कर जो अधर्म है, सर्वथा अहितकारी है उसका विरोध और त्याग करना चाहिए। धर्म का जो शुभ तत्त्व है, आध्यात्मिकता के प्रति आगे बढ़ानेवाला तत्त्व है, प्रत्येक धर्म में ऐसे जो सामान्य और स्वीकृत सिद्धांत है - जैसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि - उसके आधार पर मानवधर्म का निर्माण करना चाहिए। आधुनिक समय में महात्मा गांधीजी, विनोबाजी और आचार्य महाप्रज्ञजी जैसे महामनीषियों के जीवनदर्शन द्वारा एक नया मानवधर्म निर्मित हो रहा है। संन्यास और कर्मयोग दोनों का संमिलन इसमें होता है। अहिंसा के साधन से जीवन की सर्व समस्याओं का निराकरण शोधने की प्रेरणा इस युग की सर्वोत्कृष्ट धर्मप्रेरणा है। संप्रदाय तो परम तत्त्व को प्राप्त करने के अनेक मार्गों में से एक मार्ग ही होता है, धर्म में पूर्णता का भाव संनिहित है।

धर्म और विज्ञान का संबंध :

विनोबाजीने विज्ञान और धर्म दोनों के समन्वय की आवश्यकता का सुंदर निर्देशन किया है। गहन अहंकार में प्रकाश करना विज्ञाननिष्ठ है और द्वेष तथा वैमनस्यपूर्ण व्यक्ति के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना धर्मनिष्ठ है। सर्वधर्म का समन्वय

करके उन्होंने धर्म के मुख्य चार चरण बताये हैं - श्रद्धा, प्रेम, सत्य और त्याग। इनसे मनुष्य समत्व-योग की ओर आगे बढ़ता है।

तृष्णाओं और रागात्मक संबंधों के कारण प्राणी में असंख्य इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं एवं उद्वेगों का जन्म होता है। इन्द्रियों के विषयों से वशीभूत हो कर इनकी पूर्ति व तृप्ति के लिए सदैव आकुल और दुःखी रहता है। यह आसक्ति या राग न केवल उसे समत्व के स्वकेन्द्र से च्युत करता है, वरन उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में खींच कर उसमें एक तनाव भी उत्पन्न करता है। इससे चेतना दो केन्द्रों में बंट जाती है और दोहरा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। (१) चेतना के आदर्शात्मक और वासनात्मक पक्षों में (इसे मनोविज्ञान में 'इड' और 'सुपर इगो' का संघर्ष कहा है) तथा (२) हमारे वासनात्मक पक्ष का उस बाह्य परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। इस विकेन्द्रीकरण और तज्जनित संघर्ष में हमारी सार शक्तियाँ बिखर जाती हैं, कुण्ठित हो जाती हैं। नैतिक साधना का कार्य इस संघर्ष को मिटाकर चैतनिक और साथ में स्नायविक जीवन में भी समत्व स्थापन करने का और आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करने का है।

धर्म और अध्यात्म का आधार केवल चिंतन नहीं है, लेकिन अनुभव है। संसार के प्रति जो राग है, उस राग का क्षय होता है, वि-राग उत्पन्न होता है इसके बीच में अनुभूति की शृंखला है, वहाँ से धर्मजिज्ञासा का आरंभ होता है। धर्म मन से पार का विज्ञान है। और विज्ञान भी शांत-सुखी-निरामय जीवन के लिये मन और शरीर की समतुला का आग्रह रखता है।

शायद इस लिये हमारे क्रान्तदृष्ट ऋषिमुनियों द्वारा प्रेरित भारतीय साधना का केन्द्रीय तत्त्व समत्वयोग है। जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों में समत्व की उपलब्धि के लिये त्रिविध साधनापथ का प्रतिपादन किया है। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्पपक्ष को सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चरित्र का प्रतिपादन करता है, बौद्धदर्शन शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा श्रीमद् भगवद् गीता ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। हमारे नीतमूलक सदाचार-जैसे धृति, मार्दव, करुणा, क्षमा... आदि का एक ही लक्ष्य है मनु की शांति और शरीर की - मन की तंदुरस्त - प्रसन्न अवस्था।

मनुष्य के मनमें रहे हुए ममत्व, ईर्ष्या, क्रोध आदि कषायों, तृष्णा-मोह आदि भी सब अनिष्टों के मूल में हैं। विषयभोग की वासना सारे संघर्षों की जननी है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं :

ध्यायतो विषयान्मुसहः संगस्तेषूपजायते
संगान्सञ्जायते कामः कामोत्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

इस तरह विषयो के उपभोग के प्रति राग-तृष्णा या मोह व्यक्ति का सर्वनाश कर सकती है और व्यक्ति पर ही समाज निर्भर है । सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अहंकार भी निजी लेकिन महत्त्व का स्थान रखता है । शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके केन्द्रिय तत्त्व हैं । इसके कारण सामाजिक जीवन में भी विषमता उत्पन्न होती है । हमारे धर्म संस्थापको ने व्यक्ति के संदर्भ में सामाजिक शांति-संवादिता और सुव्यवस्था के बारे में भी सोचा है ।

वस्तुतः मनुष्य न केवल आध्यात्मिक सत्ता है और न केवल भौतिक सत्ता है । उसमें शरीर के रूप में भौतिकता है और चेतना के रूप में आध्यात्मिकता है । यही कारण है कि मानवी चेतना को दो स्तरों पर समायोजन करना होता है - (१) चैतसिक (आध्यात्मिक) और (२) भौतिक । लेकिन सामान्य परिस्थिति में इन दोनों के बीच संघर्ष ज्यादा चलता है । जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित होता है । पक्ष और प्रतिपक्ष की यह आंतरिक उपस्थिति संघर्ष का कारण बनती है । हमारे व्यावहारिक जीवन की विषमताएँ तीन हैं : आसक्ति, आग्रह और अधिकारभावना । यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक जीवन में वर्गविद्वेष, शोषकवृत्ति और धार्मिक एवं राजनैतिक मतान्धता को जन्म देती है । परिणारूप हिंसा, युद्ध और वर्गसंघर्ष पनपते हैं । सारी विषमताएँ कर्म-जनित हैं और कर्म राग-द्वेष जनित हैं । राग-द्वेष से रहित मनोवृत्ति ही आत्मा की स्व-भाव दशा है - वही समत्वयोग है । अथवा शम् अर्थात् क्रोधादि कषायों को शमित (शांत) करना भी समत्वयोग है । राग-द्वेष से युक्त होना आत्मा की वि-भाव दशा है । समत्वयोग राग-द्वेष के द्वंद्व से उपर उठाकर आत्मा को स्व-भावमें स्थापित करता है । यह आंतरिक संतुलन है । आंतरिक संतुलन की उपस्थिति में बाह्य जागतिक विक्षोभ विचलित नहीं कर सकते हैं ।

साधना के आचारपक्ष का शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान के साथ और सामाजिक विज्ञान के साथ भी - इस तरह अतूट संबंध है । शारीरिक और मानसिक या भौतिक और चैतसिक स्तर पर संतुलन साधना और तनावमुक्त बनना - यह

समत्वयोग का लक्ष्य है। आधुनिक शरीरशास्त्र और आरोग्यविषयक संशोधनों ने भी शरीर और मन की तंदुरस्ती के लिये तनावमुक्ति एवं समता का महत्त्व स्वीकार किया है। ब्लडप्रेसर, मधुप्रमेह, पेट के दर्द, मानसिक बिमारियाँ आदि के मूल में यह तनाव ही है। हमारे धर्मप्रणेताओं शायद इन शरीरविज्ञान - मनोविज्ञान आदि को भी जानते थे। इस लिये धर्म और विज्ञान अन्यान्य पूरक बनकर यहाँ प्रगट हुए। हमारे क्रान्तदृष्ट ऋषिने कहा है :

‘मनः एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।’

मन ही सबमें प्रमुख है। हम बंध और मोक्ष की बात बाद में सोचें, तब भी शरीर-मन की तंदुरस्ती और शांति के लिये मनका नियंत्रण अनिवार्य है। और इस दृष्टि से ही हमारी धार्मिक आचारपरंपरा का निदर्शन हुआ है।

धर्म और शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान :

आचार्य महाप्रज्ञजीने बताया है कि शरीर का रोग एक बड़ी समस्या है तो मानसिक रोग तो इससे भी बड़ी समस्या है। क्रोध, अहंकार, माया, लोभ - सारी भावनात्मक बीमारियाँ हैं। हम इन सबसे इतने परिचित हो गए हैं कि इन्हें बीमारी ही नहीं समझते। हकीकत में क्रोध आदि कषाय एक बीमारी ही नहीं बीमारियों को पैदा करनेवाली बीमारी है। आज विज्ञान भी मनोकायिक बीमारी को स्वीकार करता है। रोग केवल शरीर से नहीं, मन से भी पैदा होता है। मानसिक बीमारियों से भावनात्मक बीमारियाँ ज्यादा अहितकारक है। आज तक हम लोग यही समझते थे कि हिंसा, चोरी, मिथ्याचार, क्रोध, अहंकार प्रेरित वर्तन आदि से कर्म का बंधन होता है और आत्मा का अधःपतन होता है। लेकिन आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह माना जाता है कि कषायों के कारण स्वास्थ्य को बड़ा नुकसान होता है। मन में धृणा का भाव जागता है और आंतों में छले पड जाते हैं। क्रोध इर्ष्या, द्वेषभाव, ब्लडप्रेसर, डायबीटीस और हृदय के अनेक रोगों के निमित्त बन जाते हैं। इसीसे मानसिक तनाव भी बहुत बढ़ जाता है। आज विज्ञानने भी स्वीकार किया है कि आदमी में अनेक प्रकार के तनाव रहते हैं और शारीरिक रोगों के निमित्त बनते हैं। इस लिये तनाव का विसर्जन हमारे लिये बहुत महत्त्व का है। कषायों के क्षय से ही यह हो सकता है।

आज मस्तिष्क विद्या का बहुत विकास हुआ है। आज तरंगों के द्वारा मस्तिष्क की रचना का अभ्यास होता है। इसके द्वारा महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाश में आ रही है। मुख्यतः चार प्रकार की तरंगें मानी जाती हैं - अल्फा, बीटा, डेटा,

थेता । व्यक्ति - चेतना के स्तर इन्हीं के आधार पर जाने जा सकते हैं । अल्प तनाव का विसर्जन करनेवाली मानसिक क्रियाओं से जुड़ी हुई तरंग है । सारी बीटा बाह्य चेतना से जुड़ी हुई तरंग हैं ! सारी प्रवृत्तियाँ इन विद्युतीय तरंगों के आधार पर होती है ।

विचारों को भी एक भौतिक पदार्थ माना गया है । हमारे विचारों से कतिपय परमाणुओं प्रभावित होते हैं, फिर वे अवकाश में फैलाते हैं । वातावरण में इस तरह परमाणु द्वारा विचार का प्रभाव उत्पन्न होता है । लेश्या का सिद्धान्त भी इसी बात का समर्थन करता है ।

दूसरी बात यह है कि हमारी चेतना का विकास प्राणशक्ति या प्राणऊर्जा से हो सकता है । लेकिन हमारी सारी प्राणशक्ति का व्यय हररोग के संघर्ष और समस्याओं को सुलझाने में ही हो रहा है । प्राणशक्ति को बचाना और चेतना के विकास में उसका उपयोग करना बहुत जरूरी है । ध्यान के द्वारा इस अपव्यय को रोक जा सकता है, भावनात्मक संतुलन साधा जा सकता है । ध्यान के द्वारा कषाय, वासानाएं, उत्तेजनाएं शांत हो जाती है, यह अनुभवसिद्ध हकीकत है । ध्यान एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, इससे आन्तरिक रसायनों में परिवर्तन करके शरीर और मन की स्वस्थता - तंदुरस्ती प्राप्त हो सकती है ।

महर्षि श्री अरविंद बताते हैं कि बीमारी एक Process है, Event नहीं है । आजका मैडिकल सायन्स 'सायको सोमेटिक इलनेस' की बात करता है - जिसमें शरीर और मन का गाढ़ संबंध होता है । Somatic अर्थात् शरीर विषयक और Psycho अर्थात् मन विषयक । हमारी बहुत सी बीमारियाँ Psycho-Somatic है । केवल बाह्य दवाओं से उसका उपचार नहीं हो सकेगा । मनका भी नियंत्रण करना होगा ।

मैडिकल सायंसने यह भी स्वीकार किया है कि जब भावनात्मक दृष्टि से व्यक्तित्व उत्तेजित होता है - या डिसऑर्डर ऑफ इमोशन - होता है तब भावनात्मक असंतुलन से प्राण ऊर्जा, नाडीतंत्र और ग्रंथितंत्र भी प्रभावित होते हैं और शरीर की सारी अव्यवस्थायें एक साथ आगे बढ़ती हैं । हम प्राणशक्ति की भी उपेक्षा नहीं कर सकते, सबकुछ उस पर ही निर्भर है । योगसाधना का उपदेश यही प्राणशक्ति और श्वास के नियंत्रण के लिये ही है ।

शायद इस दृष्टि से हमारा धार्मिक आचार-विचार और योगशास्त्र का व्याप विज्ञान के व्याप से विस्तृत है । योगी श्री स्वामी राम का मत है कि आधुनिक विज्ञानने असाधारण प्रगति की है, फिर भी आज का मनुष्य अनेक नए नए रोगों

से संत्रस्त तथा आन्तरिक रूप से अशान्त, असंतुलित और अव्यवस्थित रहता है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान मनुष्य के परिपूर्ण स्वास्थ्य की अवधारणा को समुचित रूप से विकसित नहीं कर पाया है। यह शारीरिक और मानसिक पक्षों के उद्घाटन में अवश्य सफल हुआ है, लेकिन इसने आत्मिक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की है। इसके विपरित भारतीय योगविज्ञान मानव-व्यक्तित्व के तीनों आयामों - शारीरिक, मानसिक और आत्मिक - का समन्वय और समाहार करता है। आसन और प्राणायाम की उपयोगिता आज वैज्ञानिक परीक्षणों से भी सिद्ध हुई है।

अध्यात्म और विज्ञान के समन्वित दृष्टिकोण की आवश्यकता :

विज्ञान की दो महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं : प्रयोग और परीक्षण। हम धर्मशास्त्र-प्रेरित अथवा धर्मगुरु द्वारा कथित धार्मिक आचार का पालन (प्रयोग) तो करते हैं लेकिन परीक्षण करने की आदत नहीं है। हम धर्म को वैज्ञानिक दृष्टि से देखें कि वह आंतरिक और बाह्य जीवन में संतुलन एवं शांति की स्थापना करने में सफल हुआ है या नहीं। आध्यात्मिक आचार्यों ने आत्मा और अध्यात्म दोनों के अस्तित्व और सार्वभौम नियमों का अध्ययन किया है। जब वैज्ञानिकों ने भौतिक जगत का अध्ययन किया है। अध्यात्म का केन्द्रिय तत्त्व है आत्मा और विज्ञान का केन्द्रिय तत्त्व है भौतिक जगत्।

सामाजिक धर्म की दृष्टि से विज्ञानने अणु-परमाणु के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण संशोधन किया। लेकिन मनुष्योंने और राष्ट्रोंने इसका उपयोग अपनी लोभ-वैर-वैमत्तस्य और द्वेष की घृणित वृत्तियों की - तृष्णाओं की तृप्ति के लिये किया - फलस्वरूप वैर और द्वेष की आगने ज्यादा भीषण रूप लिया है। यदि अहिंसा आदि धार्मिक नीति के अनुसार मनुष्यमात्र के शुभ-मंगल और हित के लिये वैज्ञानिक साधनों का उपयोग हो सके तो वह सबसे श्रेष्ठ वरदानरूप है, अन्यथा महाविनाशकारी अभिशाप। आईस्टाईनने कहा था : 'अध्यात्म के बिना विज्ञान और विज्ञान के बिना अध्यात्म क्रमशः लंगडा और अंधा है।' वे महाविज्ञानी का यह कथन पूर्णतः सत्य है।

वैज्ञानिक युग में सुविधा के साधन बहुत विकसित हुए हैं, साथ में अपराध बढ़े हैं, आत्महत्या, आतंकवाद, मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति और तनाव - ये सब बढ़े हैं। क्या यह भोगवादी दृष्टिकोण की नियति है या और कोई कारण है? इस परिस्थिति ने मानवीय चिन्तन को कुछ नये ढंग से सोचने के लिये विवश किया है और वह चिन्तन ही पुनः मुडकर देखने का बिन्दु बन गया है।

राग, द्वेष, मोह, लोभ आदि कषायों से विमुक्त चेतना आध्यात्मिकता का

लक्ष्य है। लेकिन विज्ञान का फलित है उपभोक्तावादी-रागप्रेरक भौतिक जीवन। विज्ञान की इस प्रवृत्ति से मानवता के समक्ष संकटपूर्ण स्थिति का निर्माण हुआ है। अणुशस्त्रों का निर्माण, विनाशक शस्त्रों का विचारहीन उच्छृंखल प्रयोग, पर्यावरण का प्रदूषण - ये सब समस्याएँ भौतिकवाद और विज्ञान द्वारा संशोधित साधनों के अनियंत्रित उपयोग की वजह से उत्पन्न हुई हैं। यदि सामाजिक मनुष्य के लिये राग आवश्यक है तो विराग भी आवश्यक है। राग और विराग की, सुखोपभोग और संयमित जीवन की सीमा का निर्धारण करने के लिए आवश्यक है अध्यात्म और विज्ञान का समन्वित दृष्टिकोण।

जैसे आचार्य महाप्रज्ञजीने कहा है कि आज का प्रबुद्ध व्यक्ति नई दिशा के खोज में है। वह नई दिशा है अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय। समन्वय का अर्थ है - सत्य की खोज का दृष्टिकोण वैज्ञानिक रहे, केवल 'मानकर' ही नहीं चलें, विश्वास को प्रयोग की भूमिका का विवेचन कर उसके विशुद्ध रूप को प्रकट किया जाए। अध्यात्म के क्षेत्र में काम करनेवाले लोग सत्य की खोज पर अधिक बल दें, मैत्री भावना को पुष्ट बनाए रखें। विज्ञान के क्षेत्र में, काम करनेवाले लोग मैत्रीभावना पर अधिक बल दें, सत्य की खोज को अहिंसा अथवा मैत्री भावना से विच्छिन्न न करें। आवश्यकता है कि विज्ञान के परिणामों पर अंकुश रखा जाए और वह अंकुश है धर्म या अध्यात्म।

हमारा जीवन न केवल आत्मिक है और न केवल भौतिक। वह आत्मा और पदार्थ-भूत दोनों का योग है। अतः हमारे व्यवहारिक जीवन में अध्यात्म और विज्ञान दोनों का योग-संयोग हो तभी वह सार्थक, चरितार्थ बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-१,२, ले. सागरमल जैन।
२. आधुनिक मनोविज्ञान और श्री अरविंद, ले. रोहित महेता
३. योग और समग्र स्वास्थ्य, ले. योगीश्री स्वामी राम
४. आपणा घरमां, आचार्य महाप्रज्ञ
५. महाप्रज्ञ दर्शन, डॉ. दयानन्द भार्गव
६. आचार्य महाप्रज्ञजी के लेख
 - धर्म और विज्ञान
 - अध्यात्म और विज्ञान
 - स्वास्थ्य : अध्यात्म और विज्ञान के संदर्भ में.

जैन आचारसंहिता और पर्यावरणशुद्धि

पर्यावरण का प्रदूषण आज की वैश्विक समस्या है। सांप्रत समय की उपभोक्तावादी संस्कृति में प्रकृति के तत्त्वों का स्वच्छंद रूप से उपयोग हो रहा है। मनुष्य अपनी श्रुल्लक वृत्तियों - वासनाओं की तृप्ति के लिए प्राकृतिक तत्त्वों का मनचाहे ढंग से, उपभोग और विनाश कर रहा है। इससे पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, तेज (अग्नितत्त्व) में एक प्रकार की रिक्तता और विकृति भी उत्पन्न होती जा रही है। विशाल परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण समग्र सजीव सृष्टि और मानवजाति के अस्तित्व का प्रश्न है। आज हमें चकाचौंध करनेवाले आर्थिक और भौतिक विकास के मार्गमें सबसे बड़ा प्रश्नार्थचिह्न है पर्यावरण का। विज्ञानकी शक्ति के सहारे उपभोग की अमर्यादित सामग्री उत्पन्न होती जा रही है। मनुष्य सुख ही सुख के स्वप्नों में विहरता है। लेकिन इस साधनसामग्री के अमर्यादित और असंयत उपभोगने हमें पर्यावरण के बहुत बड़े प्रश्नार्थ चिह्न के सामने खड़े कर दिये हैं।

वायु और जलप्रदूषण, ओझोन वायुके स्तरका नष्ट होना, पक्षी और प्राणियों की कई जातियों का अंत होना, इन सबके बारेमें गंभीरता से सोच-विचार कर नकर रूप से कार्य करना पड़ेगा। पर्यावरण का प्रश्न जीवनशैलीका प्रश्न बन गया है। आर्थिक और भौतिक विकास के क्षेत्रमें मनुष्यने प्रकृतिसे न केवल सहाय ली है, आवश्यक मात्रामें प्रकृति के तत्त्वों का उपयोग करने के बजाय उसका शोषण किया है, जैसे महात्मा गांधीजीने बताया है कि मनुष्यने भविष्य के लिये सुरक्षित रखनी चाहिये-ऐसी कुदरती संपत्तिका सुख-सुविधा के लिये वर्तमान में ही खर्च कर दिया है।

प्रकृति नानाविध स्वरूप द्वारा अपने आप को अभिव्यक्त करती है। गांधीजी के दृष्टि से प्रकृति जीवंत है और जल, वायु तथा आहार की आवश्यकताओं को

पूर्ण करनेवाला जीवनप्रद स्रोतरूप हैं। मानवजीवन और संस्कृति प्रकृति पर निर्भर है।

हमारे ऋषिमुनि क्रान्त-द्रष्टा थे। उन्होंने प्रकृतिके तत्त्वों के साथ समन्वित रूप से मनुष्य-जीवन की एक आदर्श व्यवस्था का आयोजन किया था, जिसमें अन्य प्राणियों के जीवन की सुरक्षा भी निहित थी। अहिंसक और मैत्रीपूर्ण जीवनव्यवहार में सब सुरक्षित विकासशील और प्रगति के पंथ पर आगे बढ़ते जा रहे थे - प्रकृति का भी उसमें साथ सहकार था।

जैन आचारसंहिता की दृष्टिसे पर्यावरण की समतुला की समस्या आसानी से हल की जा सकती है। जैन आचार में निर्देशित व्रत केवल सिद्धांत के विषय नहीं हैं। उसमें आचार ही का महत्त्व है। पर्यावरण की दृष्टिसे जैनदर्शन का १. अहिंसा, २. अपरिग्रह और भोगोपभोगपरिमाण तथा ३. मैत्रीपूर्ण जीवनव्यवहार के आचार विषयक नियम ज्यादा उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

जैन साधनामें धर्म के दो रूप माने गये हैं। एक श्रुतधर्म और दूसरा चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है जीवादि नव तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उनमें श्रद्धा और चारित्रधर्मका अर्थ है संयम और तप। जैन साधु और गृहस्थ श्रावक दोनों धर्मों का पालन करते हैं, तफ़ावत इतना ही है कि साधुओं इसे महाव्रतादि रूप से समग्रतया उसका पालन करते हैं, जब श्रावक अणुव्रतादि रूप से आंशिक प्रमाण में पालन करते हैं।

आचारांग में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसमें अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाय? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है; वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है।

महावीर स्वामीने कहा है 'सब्बे सत्ता न हंतव्वा' - किसी भी प्राणी का वध नहि करना चाहिये। साधु और श्रावकों के आचार के अधिकांश नियम इस दृष्टि से ही तय कीये गये हैं। जैसे कि वनस्पति के जीव और उसके आश्रित जीवों की हिंसा के दोष में से मुक्त रहने के लिये साधुओं के लिये तो कंदमूल, शाकसब्जी जैसे आहार वर्ज्य माना गया है। गृहस्थ श्रावकों के लिये पर्वदिनों पर उसका

निषेध है।

रात्रिभोजन सामान्य तरह से अनुचित तो है ही तब भी रात्रि के समय सूर्यप्रकाश नहि होने के कारण वातावरण में जीवजंतुकी उत्पत्ति-उपद्रव बढ़ जाते हैं। (सूर्यप्रकाश में ऐसी शक्ति है तो वातावरण का प्रदूषण और क्षुद्र जीवजंतुओं का नाश करती है।) इन जंतुओं की हिंसा के भयसे रात्रिभोजन वर्ज्य माना गया है।

साधुओं के लिये वर्षाकी ऋतुमें एक ही जगह निवास करने का आदेश है, ताकि मार्ग में चलनेसे छोटे जीव-जंतु कुचल न जाय।

जैनदर्शनमें यह अहिंसा और सर्व जीवों प्रति आत्मभाव का विशेषरूपसे उपदेश दिया गया। वनस्पति, भी सजीव होने के नाते जीव-जंतुओं के साथ, उसके प्रति भी अहिंसक आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया। एक छोटे से पुष्प को शाखासे चूटने के लिये निषेध था - फिर जंगलों काटने की तो बात ही कहाँ ? जल में भी बहुत छोटे छोटे जीव होते हैं - अतः जलका उपयोग भी सावधानीसे और अनिवार्य होने पर ही करने का आदेश दिया गया। रात्रि के समय दीप जला कर कार्य करनेका भी वहाँ निषेध है। दीपक की आसपास अनेक छोटे छोटे जंतु उड़ने लगते हैं और उनका नाश होना है, अतः जीवहिंसा की दृष्टिसे दीपक के प्रकाशमें कार्य करना निंदनीय माना गया।

जैनदर्शन की आचारसंहिता के निषेधों के कारण स्वाभाविक ढंग से ही वनस्पति, जल, अग्नि आदि तत्त्वों का उपयोग मर्यादित हो गया।

इन आचारगत नियमों के कारण वनस्पति और जीव-जंतु तथा अन्य प्राणियों की रक्षा होती है।

जैन दर्शन में हिंसा के चार रूप माने गये हैं -

१. संकल्पना (संकल्पी हिंसा) - संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणात्मक हिंसा है।
२. विरोधजा - स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं सत्त्वों (अधिकारों) के रक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह सुरक्षात्मक हिंसा है।
३. उद्योगजा - आजीविका उपार्जन अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होनेवाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।

४. आरम्भजा - जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा - जैसे भोजन का पकाना । यह निर्वाहात्मक हिंसा है ।

जहाँ तक उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा की बात है, एक गृहस्थ उससे नहीं बच सकता, क्योंकि जब तक शरीर का मोह है, तब तक आजीविका का सर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति होना ही आवश्यक हैं । यद्यपि इस स्तर पर मनुष्य अपने को त्रस प्राणियों की हिंसा से बचा सकता है । जैन धर्म में उद्योग-व्यवसाय एवं भरण-पोषण के लिए भी त्रस जीवों की हिंसा करने का निषेध है ।

चाहे वेदों में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद - ६, ६५, १४) के रूप में एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा 'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, ३६, १८) के रूप में सर्वप्राणियों के प्रति मित्र-भाव की कर्मना की गई हो किंतु वेदों की यह अहिंसक चेतना भी मानवजाति तक ही सीमित रही है । मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं । यज्ञों में पशुबलि स्वीकृत रही । 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का उद्घोष तो हुआ, लेकिन व्यावहारिक जीवन में यह मानव-प्राणी से अधिक उपर नहीं उठ सका । श्रमण परम्पराएँ इस दिशा में और आगे आयीं और उन्होंने अहिंसा की व्यावहारिकता का विकास समग्र प्राणी-जगत् तक करने का प्रयास किया ।

किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा था । मात्र इतना ही नहीं, मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदों से नवकोटिक अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं और करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करना । उपासकदशांग सूत्रमें आनंदादि धनाढ्य उपासकों कैसी अनासक्तिसे संपत्तिकर त्याग और परिमाण करते हैं उनके सुंदर अनुकरणीय दृष्टांत मिलते हैं । गृहस्थ श्रावक अपनी उपलब्ध संपत्ति के उपभोग के लिये अपने आप नियंत्रण रखता है ।

गृहस्थ जीवन में कभी कभी हिंसा अपरिहार्य ईर्यापथिक भी हो जाती है । तब भी संयम और इच्छाओं के नियंत्रण से उससे विरत हो सकते हैं । आजीविका के बारे में पंद्रह कर्मदान के अतिचार बताये गये हैं जो पर्यावरण की समतुला के लिए भी उपयोगी सिद्ध होते हैं । उपासकदशांग सूत्र में भी उसका उल्लेख मिलता है -

कर्मादान :

१. अंगार कर्म - लकड़ी से कोयले बनाकर बेचने का व्यवसाय,
२. वन कर्म - जंगलों को ठेके पर लेकर वृक्षों को काटने का व्यवसाय,
३. शकट कर्म - अनेक प्रकार के गाड़ी, गाड़े, मोटर, ट्रक, रेलवे के इन्जन आदि वाहन बनाकर बेचना,
४. भाटक कर्म - पशु तथा वाहन आदि किराये पर देना तथा बड़े बड़े मकान आदि बनवाकर किराये पर देना,
५. स्फोटकर्म - सुरंग आदि का निर्माण करने का व्यवसाय,
६. दन्तवाणिज्य - हाथी दाँत, पशुओं के नख, रोम, सींग, आदि का व्यापार,
७. लाक्षा वाणिज्य - लाख का व्यापार (लाख अनेक त्रस जीवोंकी उत्पत्ति का कारण है, अतः इस व्यवसाय में अनन्त त्रस जीवों का घात होता है),
८. रस वाणिज्य - मदिरा, सिरका आदि नशीली वस्तुएँ बनाना और बेचना,
९. विष वाणिज्य - विष, विषैली वस्तुएँ, शस्त्रास्त्र का निर्माण और विक्रय,
१०. केश वाणिज्य - बाल व बाल वाले प्राणियों का व्यापार,
११. यन्त्र-पीड़न कर्म - बड़े-बड़े यन्त्रों - मशीनों को चलाने का धन्धा,
१२. निर्लाच्छन कर्म - प्राणियों के अवयवों को छेदने और काटने का कार्य,
१३. दावाग्निदान कर्म - वनों में आग लगाने का धन्धा,
१४. सरोहृदतडागशोषणता कर्म - सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य,
१५. असतीजनपोषणता कर्म - कुलटा स्त्रियों-पुरुषों का पोषण, हिंसक प्राणियों (बिल्ली, कुत्ता आदि) का पालन और समाज विरोधी तत्त्वों को संरक्षण देना आदि कार्य ।

आज जब हम पर्यावरण के संदर्भ में जंगलों का उजड़ना, खनीज संपत्ति और जल आदि की रिक्तताके बारे में सोचते हैं, तब आजीविका के ये पंद्रह अतिचारकी महत्ता हम समझ सकते हैं। उन कर्मों का निषेध अनेक तरह से पर्यावरण

की सुरक्षाके लिए उपकारक है ।

लकड़ी आदि काटकर कोयले आदि बनाने से वनस्पतिका भी नाश होता है और उसे जलने से वायु भी प्रदूषित होता है । पशुओं को किराये पर देना या बेचना भी अधर्म्य माना गया है । यहाँ अहिंसा के साथ अनुकंपा और सहिष्णुताका भाव भी निहित है । पशुओं के दांत, बाल, चर्म, हड्डी, नख, रोम, सींग और किसी भी अवयवका काटना और इससे चीजवस्तुओंका निर्माण करके व्यापार करना निषिद्ध है ।

आज हम हाथीदांत और अन्य प्राणीयों के चर्म, हड्डी आदिसे सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण के लिये अनियंत्रित ढंग से प्राणियोंकी हत्या करते हैं ।

वन-जंगल आदि केवल वृक्षका समूह वनस्पतिका उद्भवस्थान ही नहीं है, लेकिन पृथ्वी पर के अनेक जीवों के जन्म, जीवन और मृत्यु के परस्पर अवलंबनरूप एकम है । वास्तविक दृष्टि से पृथ्वी के सर्व जीवों के वृक्ष-वनस्पति सहित परस्पर अवलंबनरूप, एक आयोजनबद्ध व्यवस्था मनुष्यने अपने स्वार्थवश कुदरतकी यह परस्परावलंबन की प्रक्रिया में विक्षेप डाला है । निष्णात लोगों का मत है कि प्रत्येक सजीव का पृथ्वी के संचालनमें अपना योगदान है । लेकिन आज पृथ्वी पर का जैविक वैविध्य कम होता जा रहा है । वन और वनराजि - जीवजंतु, पशुपक्षी आदिका बड़ा आश्रयस्थान है । लेकिन जंगल के जंगल ही जब काटे जा रहे हैं, तब उसमें रहनेवाले पशु-पक्षियोंकी सलामती कैसे रहेगी ? सौंदर्य प्रसाधनों के उत्पादन के लिए हाथी, वाघ, मगर, सर्प आदि की अनेक संख्यामें निर्मम हत्या की जाती है । कीटकनाशक दवाओं से भी असंख्य जीव-जंतुओं का नाश होता है । वनसृष्टि के विनाश से उपजाऊ जमीन भी बंजर बन जाती है, रणप्रदेशों का विस्तार बढ़ता है ।

जमीन को खोदने से उसमें रहनेवाले जीवों की हिंसा होती है इस लिये सुरंग आदि बनाना और खनीज संपत्तिका व्यापार करनेका भी निषेध है । इस नियमका पालन करनेसे जीवों की रक्षाके साथ खनीजसंपत्तिका अनावश्यक उपयोग भी नहि होगा । मदिरा जैसी नशीली वस्तु व्यक्ति और समष्टि का अहित करती है । और तालाब सरोवर आदिका जल सूखाने के लिये जो निषेध किया गया है वह जलकाय जीवों की विरोधनासे मुक्त रखता है साथमें जल की अच्छत भी मद्दसूस नही होगी । बड़े बड़े यंत्र चलानेका व्यवसाय भी आवकार्य नहीं है । आज हम देखते हैं की औद्योगिकरण से हमें अनेक प्रकारकी सुविधा उपलब्ध होती है, लेकिन इसी के

कारण शायद, पर्यावरण को सबसे बड़ी हानि पहुँची है ।

केमिकल उद्योग और कुदरती तेल आधारित - जिसे पेट्रोकेमिकल संकुलन कहा जाता है, - ऐसे उद्योगोंमें प्रदूषण की समस्या अनिवार्यरूप से होती है ।

जल, वायु और पर्यावरणीय प्रदूषणको दूर रखने के लिए औद्योगिक एकमो आदि पर सरकार द्वारा अंकुश रखने का आरंभ तो हुआ है, लेकिन जब तक वैयक्तिक रूपसे इच्छाओं पर अंकुश नहि होगा, अहिंसा और अपरिग्रह का पालन नहीं होगा, तब तक अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । व्यक्ति के लिए जीवननिर्वाह के लिए कितनी चीजें आवश्यक है, उसे कितनी प्राप्त हो सकती है, उत्पादन प्रक्रिया में जीवसृष्टि के लिए आधाररूप हवा, पानी, जमीन और वनस्पतिको कितनी हानि होती है, उसका परिप्रेक्षण करना चाहिए । यंत्र-सामग्री, वाहन-व्यवहार के साधनों के अपरिमित उपयोग से ध्वनि-प्रदूषण की समस्या भी हमारे सामने हुई है ।

जैनदर्शन में अग्निक्वय और अग्नि को सजीव माना गया है । आचारांग निर्युक्तिकारके अग्नि सजीव होने के लक्षणरूप से खद्योतका दृष्टांत दिया है । खद्योत (जूगनू) अपनी सजीव अवस्थामें ही प्रकाश दे सकता है । मृत्यु के बाद वह प्रकाशरहित हो जाता है । प्रकाशित होना, वह उसके चैतन्य का लक्षण है । इस तरह अग्निका उष्ण स्पर्श भी उन्के सजीव होने का लक्षण है । श्रीदशवैकालिक सूत्रमें 'दशपूर्वधर सूत्रकार श्री शय्यंभवसूरिजी'ने बताया है कि किसी भी साधु-साध्वी के लिए अग्नि, अंगार, मुर्मुर्, अर्चि, ज्वाला, शुद्ध अग्नि, विद्युत, उल्का आदिको प्रदीप्त करना निषिद्ध है । उसमें घी और ईंधनका उत्सिचन नहीं करना चाहिए । वायुसे ज्यादा प्रज्वलित करनेका प्रयास और उसे बुझानेका प्रयास भी नहीं करना चाहिए । इसे करने से तेउकायकी विरोधना-हिंसा का दोष होता है । आज हम जंगलों को काटकर कोयले बनानेका व्यवसाय करते हैं, जलमें उत्पन्न विद्युत का और गैसका अनियंत्रित उपयोग हो रहा है । इससे वनस्पति और जल संबंधित प्रदूषण के साथ साथ वायु का प्रदूषण भी बढ़ गया है ।

इस समयमें वैज्ञानिकों ने विकसित और विकासशील देशों द्वारा आकाशमें बार बार उपग्रहों रखने के बारे में और अवकाश में होनेवाले प्रयोगों के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की है । उपग्रहों और अवकाशी प्रयोगों द्वारा स्पेस शटल के ज्यादातर उपयोगसे, सूर्य के पारजांबली किरणो (Ultraviolet), जो मनुष्य और समग्र प्राणीसृष्टि के लिए हानिकारक है, उसे रोकनेवाला ओझोन वायुका स्तर नष्ट हो जायेगा और सूर्य के पारजांबली किरण से सजीव सृष्टि का नाश होगा । सूर्यमें से मानो

अग्निकी वर्षा होगी ।

मुनिश्री नदीघोष विजयजीने अपनी 'जैनदर्शन : वैज्ञानिक दृष्टिसे' पुस्तकमें (पृ. १९९)में इस तरह लिखा है -

“जैन दृष्टिसे निर्देशित कालविभाजन के अनुसार छठ्ठ आरा वर्णनमें बताया गया है कि उसी समयमें अग्नि की वर्षा होगी, नमक आदि क्षारोंकी वर्षा होगी, जो विषाक्त होगी । उससे पृथ्वीमें हाहाकार होगा । इस तरह से पृथ्वी का प्रलय होगा । मनुष्य आदि लोग दिनमें वैताढ्यपर्वतकी गुफ्रमें रहेंगे और रात्रिके समय ही बहार निकलेंगे । सब मांसाहारी होंगे ।”

आज के पर्यावरणवादियोंने ओझोन वायुके नष्ट होते जाते स्तरके बारे में जो चिंता व्यक्त की है, उसीका संदर्भ तो यहाँ नहि मिल रहा है ?

ब्रह्मांड की किसी भी क्रिया उसके अपने नियमों से विरुद्ध कभी नहीं होती है । ब्रह्मांड की संरचना और विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रिया के अवलोकन करने के बाद ही हमारे पूर्वाचार्योंने सही जीवन के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया था । प्रकृति के साथ मेल-जोल से जीवनयापन करनेकी व्यवस्था ही मनुष्य के वर्तमान और भावि के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

जैनदर्शनमें उपदेशित अपरिग्रह, परिग्रहपरिमाणव्रत अथवा इच्छपरिमाण व्रत भी महत्त्व का है ।

गृहस्थ साधक को अपने रोजबरोजके जीवनमें उपयोगी चीजों के परिग्रह की मर्यादा निश्चित करनी होती है - जैसे साधना की दृष्टि से इच्छ का परिसीमन अति आवश्यक है । जैन विचारणा में गृहस्थ साधक को नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा निश्चित करनी होती है - १. क्षेत्र - कृषि भूमि अथवा अन्य खुला हुआ भूमि भाग, २. वास्तु - मकान आदि अचल सम्पत्ति, ३. हिरण्य - चांदी अथवा चांदी की मुद्राएँ, ४. स्वर्ण - स्वर्ण अथवा स्वर्ण मुद्राएँ, ५. द्विपद - दास दासी - नौकर, कर्मचारी इत्यादि, ६. चतुष्पद - पशुधन, ७. धन - चल सम्पत्ति, ८. धान्य - अनाजादि, ९. कुप्य - घर गृहस्थी का अन्य सामान ।

साधक वैयक्तिक रूप सेभी अपने जीवन की दैनिक क्रियाओं जैसे आहार-विहार अथवा भोगोपभोग का परिमाण भी निश्चित करता है । जैन परम्परा इस संदर्भमें अत्याधिक सतर्क है । व्रती गृहस्थ स्नान के लिए कितने जलका उपयोग करेगा, किस वस्त्रसे अंग पोछेगा यह भी निश्चित करना होता है । दैनिक जीवन के व्यवहार की

उपभोग-परिभोग ही हरेक प्रकार की चीजों की मात्रा और प्रकार निश्चित किये जाते हैं ।

इस तरह बाह्य चीज-वस्तुओं के संयमित और नियंत्रित उपयोग से पर्यावरण का संतुलन हो सकता है । लेकिन यह नियंत्रण व्यक्तिको अपने आप सिद्ध करना होगा । इसके लिए उसे क्रोधादि कषायोंसे मुक्त होना पड़ेगा । राग, अहंता, क्रोध, गर्व आदि कषायों पर विजय पाने के बाद ही व्यक्तिकी चेतना अपने और पराये से भेदसे उपर उठ जाती है । और 'आयतुल पायासु' - अन्य में भी आत्मभावकी अनुभूति करती है । अहिंसक आचरण के लिए मनुष्य के मनमें सर्व के प्रति मैत्रीभावना, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना सदा जागृत होनी चाहिये, अन्यथा उसका व्यवहार स्व-अर्थको सिद्ध करनेवाला ही होगा, जो सामाजिक जीवनमें विषमता उत्पन्न कर सकता है ।

व्यक्तिकी आंतरिक विशुद्धि ही प्राकृतिक और सामाजिक जीवनमें संवादिता की स्थापना कर सकती है । यह संवादिता ही पर्यावरण विशुद्धिको पर्याय भी बन सकती है ।

जैन और बौद्ध धर्म में अहिंसा का निरूपणः तुलनात्मक दृष्टि से

अहिंसा की अवधारणा बीजरूप में सभी धर्मों में पायी जाती है। यज्ञयाग एवं पशुबलि के समर्थक वैदिक और यहूदी धर्मग्रंथों में भी अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। लेकिन जैन और बौद्ध धर्म में अहिंसा के बारे में विशेष-सूक्ष्म रूप से विचारणा हुई है। जैन धर्म में पंच महाव्रतों में और बौद्ध धर्म में पंचशील के रूप में अहिंसा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।

अहिंसा लक्षणो धर्मस्ति तितिक्षणस्तथा ।

यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाहिंसा तत्र सम्भवेत् ॥

धर्म का पालन पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा लक्षण है तितिक्षा। जो कष्ट में धैर्य नहीं रख पाता, उसके लिये अहिंसा की साधना सम्भव नहीं। इससे भी आगे बढ़कर अहिंसा को ही परमो धर्म - अहिंसा परमो धर्म - कहा गया है। और कहा गया है -

सव्वाओवि नईओ कमेण जह सायरम्मि निवडंति ।

तह भगवाई अहिंसा सव्वे धम्मा सम्मिलंति ॥

जैसे सब नदीयाँ सागर में मिल कर एकरूप हो जाती हैं, इस तरह सब धर्म अहिंसा में ही पर्यवसित होते हैं।

अहिंसा का स्वरूप :

अहिंसा का शब्दार्थ है हिंसा का निषेध। यह उसका निषेधरूप है। उसके विधेयात्मक रूप में प्राणीपात्र के प्रति मैत्रीभाव, राग-द्वेष-मोह आदि कषायों के अभाव को हम बता सकते हैं। वस्तुतः अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान,

समत्वभावना एवं अद्वैतभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं जीवन के प्रति सम्मान के भाव से विकसित होती है।

जैन और बौद्ध धर्म में अहिंसा का व्यापक रीत से परिचय दिया गया है। इससे अहिंसा का स्वरूप भली-भाँति समझ सकते हैं।

जैन धर्मपरंपरा हिंसा का दो पक्षों से विचार करती है। एक हिंसा का बाह्य पक्ष है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्यहिंसा कहा गया है। द्रव्यहिंसा स्थूल एवं बाह्य घटना है। यह एक क्रिया है, जिसे प्राणातिपात, प्राणवध, प्राणहणन, मारना-ताडना आदि नामों से जाना जाता है। भाव-हिंसा का विचार है, यह मानसिक अवस्था है जो प्रमादजन्य है। रागादि कषाय का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार राग, द्वेष आदि कषायों और प्रमादवश किया जानेवाला प्राण-वध हिंसा है।

जैन-दर्शन में इसी आधार पर सूक्ष्म रूप से हिंसा के चार रूप माने गये

✽

१. संकल्पना (संकल्पिक हिंसा - अर्थात् संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणात्मक हिंसा है।
२. विरोधजा हिंसा - स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं सत्त्वों (अधिकारों) के रक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह सुरक्षात्मक हिंसा है।
३. उद्योगजा हिंसा - आजीविका उपार्जन अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होनेवाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।
४. आरम्भजा हिंसा - जीवननिर्वाह के निमित्त होनेवाली हिंसा - जैसे भोजन का पकाना। यह निर्वाहात्मक हिंसा है।

जहाँ तक उद्योगजा और आरंभजा हिंसा की बात है - एक गृहस्थ उससे नहीं बच सकता। क्योंकि जब तक शरीर का मोह है, तब तक आजीविका का अर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति - दोनों ही आवश्यक हैं। यद्यपि इस स्तर पर मनुष्य अपने को त्रस प्राणि की हिंसा से बचा सकते हैं। जैन धर्म में उद्योग-व्यवहार एवं भरण-पोषण के लिए भी त्रस जीवों की हिंसा करने का निषेध है।

प्रथम स्तर पर हम आसक्ति, तृष्णा आदि के वशीभूत हो कर की जानेवाली अनावश्यक आक्रामणात्मक हिंसा से बचें, फिर दूसरे स्तर पर जीवनयापन एवं आजीविकोपार्जन के निमित्त होनेवाली त्रस हिंसा से विरत हों। तीसरे स्तर पर विरोध के अहिंसक तरीके को अपनाकर प्रत्याक्रामणात्मक हिंसा से विरत हों। इस तरह जीवन के लिए आवश्यक जैसी हिंसा से भी क्रमशः उपर ऊठते हुए चौथे स्तर पर शरीर और परिग्रह की आसक्ति का परित्याग कर सर्वतोभावन पूर्ण अहिंसा की दिशा में आगे बढ़े।

जैन दर्शन में अहिंसा और सर्व जीवों प्रति आत्मभावना का विशेष रूप से उपदेश दिया गया। वनस्पति भी सजीव होने के नाते जीव-जन्तुओं के साथ, उसके प्रति भी अहिंसक आधार विचार का प्रतिपादन किया गया। एक छोटे से पुष्प को शाखा से चूटने के लिए निषेध था - फिर जंगलों काटने की बात ही कहाँ ? जल में बहुत छोटे छोटे जीव होते हैं - अतः जल का उपयोग भी सावधानी से और अनिवार्य होने पर ही करने का आदेश दिया गया। रात्रि के समय दीप जलाकर कार्य करने का भी वहाँ निषेध है। दीपक की आसपास अनेक छोटे छोटे जीव-जंतु उड़ने लगते हैं और उसका नाश होता है, अतः जीवहिंसा की दृष्टि से दीपक के प्रकाश में कार्य करना निन्दनीय माना गया।

जैन दर्शन की आचारसंहिता के निषेधों के कारण स्वाभाविक ढंग से ही वनस्पति, जल, अग्नि, आदि तत्त्वों का उपयोग मर्यादित हो गया। जिस से छोटे छोटे जीव-जंतु और प्राणियों की और वनस्पति की रक्षा होती है तथा पर्यावरण की भी सुरक्षा होती है।

पंद्रह कर्मादान के संदर्भ में लकड़ी आदि काटकर कोयले आदि बनाने से वनस्पति का भी नाश होता है और जलने से वायु भी प्रदूषित होता है। पशुओं को किराये पर देना या बेचना भी अधर्म्य माना गया है। यहाँ अहिंसा में अनुकंपा और सहिष्णुता का भाव भी निहित है। पशुओं के दांत, बाल, चर्म, हड्डी, नख, रों, सींग और किसी भी अवयव का काटना और इससे चीज-वस्तुओं का निर्माण करके व्यापार करना निषिद्ध है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा :

गौतम बुद्ध ने भी दुःखक्षय और शांति स्थापना के लिये अहिंसा की आवश्यकता बताई है।

सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति ।

अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सा न लभते सुखम् ॥

(धम्मपद - १०/२)

अपनी तपश्चर्या के संदर्भ में वे कहते हैं कि कोई छोटे जीव-जंतु की हत्या न हो जाये - इसके लिये मैं सावधान रहता था ।

सभी प्राणी सुख चाहते हैं । जो अपने सुख की इच्छा से दूसरे प्राणियों को हिंसा करता है, उसे न यहाँ सुख मिलता है, न परलोक में ।

अप्रत्यक्ष हिंसा को भी वर्ज्य मानते हैं - जैसे कहते हैं - 'मा वोच फरुसं किंचि' किसी को कठोर वचन मत कहो - जिससे वह व्यथित हो । मन-वचन और क्राया से किसी की घात न करने का स्पष्ट उपदेश उन्होंने दिया है ।

बौद्ध धर्म में जैन धर्म की तरह व्यवहारपक्ष में अहिंसा का स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं किया गया है तब भी सुखोपभोग और आजीविका की दृष्टि से सर्वतोभावेन हिंसा को वर्ज्य माना है । वृक्ष में भी प्राण होने की बात बुद्धने कही है । आजीविका की दृष्टि से भी प्राणियों के नख, दंत, चर्म - आदि से बनाई गई वस्तुओं का व्यापार यहाँ निषिद्ध है । निर्वाण प्राप्ति के लिए राग-द्वेष-मोहरहित मनःस्थिति और अहिंसा का मन-वचन-क्राया से परिपालन अपरिहार्य माना गया है । दोनों धर्मों के साहित्य में ऐसी अनेक गाथायें मिलती हैं, जिनमें अहिंसा का समान-रूप से निरूपण किया गया है । जैसे-

संधि लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास ।

तम्हा ण हंता ण विघातए ॥ (आचारांग सूत्र - १,३,३,१)

यह लोक - यह जीवन - धर्मानुष्ठान की अपूर्व सन्धि-वेला है । इसे जान कर साधक बाह्यजगत को अन्य आत्माओं को - प्राणीमात्र को - आत्मसदृश्य अपने समान समझे । किसी का हनन न करे । पीडोत्पादन न करें ।

इसी तरह भगवान बुद्ध कहते हैं -

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं ।

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्यं न घातये ॥

(सुत्तनिपात - ३, ३७, २७)

जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये अन्य प्राणी हैं । जैसे वे अन्य प्राणी हैं वैसे ही मैं हूँ । यों सोचता हुआ अपने समान मानकर न उनकी हत्या करे, न करवाए ।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि मा, एत्तियेगं जिणसासणं ॥

(बृहत्कल्पभाष्य - ४५-४)

तुम अपने लिये जैसा चाहते हो, वैसा तुम औरों के लिये भी चाहो । अपने लिये जो नहीं चाहते, उसे औरों के लिये भी मत चाहो ।

आचारांग में बताया है -

सव्वेसि जीवितं पियं । (आचारांग - १-२-३-४)

और भी कहा गया है -

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीवउं ण मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निगंथा वाज्जयंति णं ॥ (दशवैकालिक - ६)

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता । अंतः निर्ग्रन्थ घोर प्राणीवध को वर्ज्य मानते हैं ।

तथागत ने भी यही कहा है -

सब्बे तस्सन्ति दण्डस्स, सब्बसं जीवितं पियं ।

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥ (धम्मपद - १०.२)

दण्ड से - हिंसा से सब त्रस्त होते हैं । सबको अपना जीवन प्रिय लगता है । औरों को अपने ही समान समझकर उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

बुद्ध और महावीर के समय में ब्राह्मण शब्द ज्ञातिवाचक बन गया था, उसकी यथार्थ व्याख्या महावीर और बुद्ध ने बहुत समान रूप से दी है । मानव जन्म से नहि, कर्म से श्रेष्ठ होता है । जन्म से नहीं कर्म से ब्राह्मण बनता है । समभाव से श्रमण होता है और अहिंसादि व्रत और पंचशीलों के पालन से ही ब्राह्मण बनता है । जैसे महावीर स्वामीने कहा है -

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थापरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूमि माहणं ॥

(उत्तरा. अ. २५, गाथा-२३)

जो त्रस्त और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उसकी मन, वचन और कर्मा से हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

बुद्धने धम्मपद में यही बात कही है -

निधाय दंडभूतेसु, तुसेसु थावरेसु च ।

यो न हन्ति न घातेति, तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥ (धम्मपद - २६/२३)

त्रस एवं स्थावर प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होने का जिस प्रकार जैन-वाङ्मय में प्रतिपादन है, वैसे ही बौद्ध वाङ्मय में भी है। वहाँ न केवल भावसाम्य है, वरन शब्द साम्य भी है। इससे अहिंसा की व्यापकता और माहात्म्य फलित होता है।

अहिंसक समाज की स्थापना :

हमारे व्यक्तिगत जीवन में क्लेषादि भावरूप वृत्तियाँ और विचारधारयें हैं जिनके कारण समाज में हिंसा उत्पन्न होती है। जब तक मनुष्य के मन में अहंकार, राग-द्वेषादि रहेंगे तब तक अहिंसा का पालन और शांतिपूर्ण जीवन की संभावना नहीं है।

हमारे व्यावहारिक जीवन की तीन प्रकार की विषमताएँ हैं - (१) आसकति-राग, (२) आग्रह और (३) अधिकार भाषना।

यही वैयक्तिक जीवन की विषमतायें सामाजिक जीवन में वर्ग-विद्वेष, शोषकवृत्ति और धार्मिक एवं राजनैतिक मतान्धता को जन्म देती है। और परिणामस्वरूप हिंसा, युद्ध और वर्ग संघर्ष होते रहते हैं। इन विषमताओं के कारण उद्भूत संघर्षों को हम चार विभाग में विभाजित कर सकते हैं।

- (१) व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष : जो आदर्श और वासना के मध्य है, यह इच्छाओं का संघर्ष है। इसे चैतसिक विषमता कहा जाता है।
- (२) व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष : व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओं और अन्य इच्छाओं की पूर्ति बाह्य जगत में करता है। अनन्त इच्छा और पूर्ति के सीमित साधन इस संघर्ष को जन्म देते हैं। यह आर्थिक संघर्ष अथवा मनोभौतिक संघर्ष है।
- (३) व्यक्ति और समाज का संघर्ष : व्यक्ति अपने अहंकार की तृष्टि समाज में ही करता है। उस अहंकार को पोषण देने के लिये अनेक मिथ्या विश्वासों का समाज में सृजन करता है। यहीं वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक मतान्धता और विभिन्न वाद उसी के परिणाम है।

- (४) समाज और समाज का संघर्ष : जब व्यक्ति सामान्य हितों और सामान्य विश्वासों के आधार पर समूह या जूथ बनाता है तो सामाजिक संघर्षों का उदय होता है। इसका आधार आर्थिक और वैचारिक दोनों ही हो सकता है।

ये विषमतायें दूर करने के लिये हमें राग-द्वेषादि कषायों को भी क्षीण करना होगा। इस कषायों के ही कारण व्यक्ति और समष्टि का जीवन अशांतिमय बनता है। जैसे -

ममत्वं रागसम्भूतं, वस्तुमात्रेषु यदि भवेत्।

साहिंसाडकिरेषेव, जीवोडसो बध्यतेडनया।

वस्तु मात्र के प्रति राग से जो ममत्व उत्पन्न होता है, वह हिंसा है और वही आसक्ति है। उसीसे यह आत्म आबद्ध होता है।

इसके साथ मनुष्य के मनमें रहे हुए ममत्व, ईर्ष्या, क्रोध आदि कषायों, तृष्णा-मोह आदि भी सब अनिष्टों के मूल में हैं। विषयभोग की वासना सारे संघर्षों की जननी है।

प्रतिशोध की जो भावना है, वैर से वैर का बदला लेने की जो वृत्ति है, इससे कितना आतंक फैलता है, इसका हम खुद आज अनुभव कर रहे हैं। अहंकार और स्वार्थवश साम्राज्यवादी देशों का युद्ध का जो माहोल आज हम देखते हैं, वह अत्यंत आघातप्रेरक है। हम टी.वी. में देखते हैं कितने मासुम बच्चों अपने मातापिता के साथ अपना प्यारा वतन और बचपन छोड़कर कहीं अनजान स्थलों पर जा रहे हैं - कितना आतंक है उनके मनमें, वे बड़े होकर क्या बनेंगे? आतंकवादी ही तो बनेंगे।

और युद्ध से प्राप्त होनेवाला विजय, जैसे युधिष्ठिर कुरक्षेत्र के युद्ध में विजय पाने के बाद श्रीकृष्ण से कहते हैं -

जयोडयम् अजयकारो केशवं प्रतिभाति मे।

हे केशव ! यह विजय मुझे पराजय से ज्यादा दुःखदायक लगता है। कर्लिंग के युद्ध की विभिषिका के कारण अशोक के हृदय ने विजय के आनंद के अतिरिक्त दारुण वेदना का ही अनुभव कीया था। हिरोशीमा और नागासाकी की घटना हमारे सामने हैं। ऐसी विजय हिंसा की परंपरा को जन्म देते हैं। और अमरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर से जो खून बहाया गया - कहाँ तक बहता रहेगा... मालूम नहीं।

हिंसा के बजाय अहिंसा से भी न्याय प्राप्त हो सकता है। हमें बार बार कहा गया है कि प्रेम-समभाव-सहिष्णुता-सब से ज्यादा शक्तिशाली साधन है - जिससे सत्य विजयी सिद्ध होता है। महावीर स्वामीने चंडकोशिक नाग को और बुद्धने शांत सद्भाव से अंगुलिमाल को वश किया था, जिसे राजा प्रसेनजित बड़े से बड़े सैन्य की सहाय से भी वश नहीं कर सका था। आज के समय में गांधीजी के सत्याग्रह तथा विनोबाजी और रविशंकर महाराज के दृष्टांत हमारे सामने हैं, जिन्होंने अहिंसा की शक्ति से न्याय पाया था। और 'दूरियों' पर भी विजय पाया था। अलबत्त यह अनिवार्य है कि अहिंसा के शस्त्र से लड़नेवाले व्यक्ति को अपने आप संपूर्णरूप से अहिंसा और प्रेमभाव से ओतप्रोत होना चाहिए। लेकिन अहिंसा कायरो का शस्त्र नहीं है।

महाभारत शांतिपर्व (१४०-६७) में कहा है -

नाऽसाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ॥

मृदु - प्रेमयुक्त उपायसे कुछ भी असाध्य नहीं है - अतः मृदु सबसे अधिक क्षीण-धारदार माना गया है। इस लिये गांधीजीने कहा कि अहिंसा कायरो का शस्त्र नहीं है निर्बल का शस्त्र नहीं है।

अहिंसा आध्यात्म की सर्वोच्च भूमिका है उसीके आधार से व्यक्ति और समष्टि के जीवन में शांति और संवादिता सुस्थापित हो सकती है। अहिंसा की अवधारणा बीजरूप से सर्व धर्मों में पायी जाती है। अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना एवं अद्वैतभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से शांतिमय सहअस्तित्व संभव बनेगा।

भगवान महावीर और समाजवाद

भगवान महावीरने आयातुले पायासु - सबको आत्मवत् मानने का उपदेश दे कर मानो आज हम जिसे समाजवाद-साम्यवाद या तो समानतावाद कहते हैं - उनके मूलभूत प्रयोजनका ही उद्बोधन किया था ।

स्वतः सिद्ध समाजवाद :

सामाजिक विषमताके निराकरण के हेतुसे अर्थप्रधान दृष्टिसे प्रेरित समाजवादका आधार भौतिक है । इसके अनुसार आर्थिक क्रियायें ही समग्र मानवीय चिन्तन और प्रगति के केन्द्र में हैं । समानरूपसे संपत्तिका वितरण करने से, और क्रायदा-कानून द्वारा उसे दृढीभूत करने से शोषणविहीन समाजकी रचना करनेका उसका ध्येय है । समाज में बाह्य रीतिसे समानता स्थापित करने की यह कोशिश समाज से व्यक्ति की और जाती है । जब की आत्मवत् सर्वभूतेषु-की भावना चरितार्थ करनेका भगवान महावीर का उपदेश तप और संयमपालन का महत्त्व समझाकर व्यक्ति की अंतर्चेतनाको व्यापक और विशुद्ध बनाता है । राजकीय साधनों से दमन द्वारा नहि लेकिन व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास द्वारा सहजरूपसे सिद्ध होनेवाली समानता के वे आग्रही थे । सामाजिक समानता और न्याय उनके आचारदर्शन का स्वाभाविक परिणाम है । यहाँ संयमी और मैत्रीभावना से युक्त व्यक्ति समाजवादके हेतुको अनायास ही सिद्ध करता है । वह कभी शोषण, उत्पीड़न या क्रूरतायुक्त आचरण नहीं करेगा कि जिससे समाज में विषमता का वातावरण उत्पन्न हो ।

समाजवाद और भगवान महावीर के उपदेशमें मानवमात्र की समानतामें आस्था, लोभ और संग्रहवृत्ति का विरोध और इसके द्वारा शोषणविहीन समाजव्यवस्था की स्थापना के बारे में अनेक रूपसे विचारसाम्य है लेकिन उनकी नीति-रीतिमें काफी तफ़ावत है । अहिंसा, अपरिग्रह और भोगोपभोग परिमाणव्रत द्वारा समाजवाद

के सिद्धांत स्वतः सार्थक होते हैं ।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनमें संघर्ष और राग-द्वेषादि कषायों :

हमारे व्यक्तिगत जीवन में क्लेषादि भावरूप वृत्तियाँ और विचारधारारयें हैं जिनके कारण व्यक्ति के अंगत और सामाजिक जीवन में अशांति और विषमता उत्पन्न होती है । मनुष्य के मनमें रहे हुए ममत्व, ईर्ष्या, क्रोध आदि सब अनिष्टों के मूलमें है । विषयभोग की वासना सारे संघर्षों की जननी है । विषयों के उपभोग के प्रति राग-तूष्णा या मोह व्यक्ति का सर्वनाश कर सकती है । और व्यक्ति पर ही समाज निर्भर है ।

इस तरह सामाजिक जीवन में विसंवादिता उत्पन्न करनेवाली चार मूलभूत असद वृत्तियाँ हैं - १. संग्रह (लोभ), २. आवेश (क्रो), ३. गर्व (अभिमान) और ४. माया (छिपाना) । ये चारों अलग अलग रूपमें सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्तिके कारण बनते हैं । १. संग्रह के मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर व्यवहार, विश्वासघात आदि बढ़ते हैं । २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष और युद्ध का जन्म होता है । ३. गर्व - अभिमान से मालिकीकी भावना जागृत होती है और दमन बढ़ता है । इस प्रकार कषायों - असदवृत्तियों के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है । सामाजिक विषमताओं को मिटाने के लिये नैतिक सदगुणों का विकास अनिवार्य है ।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अहंकार भी निजी लेकिन महत्त्व का स्थान रखता है । शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके केन्द्रिय तत्त्व है । इसके कारण सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है । शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता - निम्नता के मूल में यही कारण है । वर्तमान समय में अति विकसित और समृद्ध राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है - साम्राज्यवृद्धि की वृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहंकी पुष्टि का प्रयत्न है । स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थितिमें होता है । जब व्यक्ति के मनमें आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उदबुद्ध होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, उसे अपने प्रभाव में रखने का प्रयास करता है । जैन और बौद्ध दोनों दर्शनोंने अहंकार, मान, ममत्व के प्रहाण का उपदेश दिया है, जिसमें सामाजिक परतंत्रताका लोप भी निहित है ।

और अहिंसा का सिद्धांत भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों का स्वीकार करता है । अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है । अतः अहिंसा का

सिद्धांत स्वतंत्रता के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध दर्शन एक और अहिंसा-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरे ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद एवं उच्च-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

शांतिमय समाज की स्थापना के लिये व्यक्ति का नीतिधर्म से प्रेरित अहिंसापूर्ण आचार ही महत्त्व का परीबल है।

अहिंसा :

अहिंसा का शब्दार्थ है हिंसा का निषेध। यह उसका निषेधरूप है। उसके विधेयात्मक रूप में प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, राग-द्वेष-मोह आदि कषायों के अभाव को हम बता सकते हैं। वस्तुतः अहिंसा का मूल हेतु जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना एवं अद्वैतभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हींसे अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं जीवन के प्रति सम्मान के भाव से विकसित होती है।

अपरिग्रह :

जैनदर्शन में उपदेशित अपरिग्रह, परिग्रहपरिमाणव्रत अथवा इच्छापरिमाण व्रत भी महत्त्व का है।

गृहस्थ साधक को अपने रोजबरोज के जीवन में उपयोगी चीजों के परिग्रह की मर्यादा निश्चित करनी होती है - जैसे साधना की दृष्टि से इच्छा का परिसीमन अति आवश्यक है।

जैन विचारणा में गृहस्थ साधक को नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा निश्चित करनी होती है - १. क्षेत्र - कृषि भूमि अथवा अन्य खुला हुआ भूमि भाग, २. वास्तु - मकान आदि अचल सम्पत्ति, ३. हिरण्य - चांदी अथवा चांदी की मुद्राएँ, ४. स्वर्ण - स्वर्ण अथवा स्वर्ण मुद्राएँ, ५. द्विपद - दास दासी-नौकर, कर्मचारी इत्यादि, ६. चतुष्पद - पशुधन, ७. धन - चल सम्पत्ति, ८. धान्य - अनाजादि, ९. कुप्य - घर गृहस्थी का अन्य सामान।

साधक वैयक्तिक रूप से भी अपने जीवन की दैनिक क्रियाओं जैसे आहार-विहार अथवा भोगोपभोग का परिमाण भी निश्चित करता है। जैन परम्परा इस संदर्भ में अत्याधिक सतर्क है। व्रती गृहस्थ स्नान के लिए कितने जलका उपयोग करेगा किस वस्त्रसे अंग पोंछेगा यह भी निश्चित करना होता है। दैनिक जीवन के व्यवहार

की उपभोग-परिभोग की हरेक प्रकार की चीजों की मात्रा और प्रकार निश्चित किये जाते हैं। इस तरह बाह्य चीज-वस्तुओं के संयमित उपयोग से संपत्ति का समतुलन होगा।

समत्वभाव :

समानता और समत्वभाव का भी जैनदर्शन में इतना ही महत्त्व है।

चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्पपक्ष को समत्वसे युक्त या सम्यक् बनाने के हेतु जैनदर्शनने सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का प्रतिपादन किया है, बौद्धदर्शनने शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा गीताने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन किया है।

यह समत्व की साधना सदाचाररूप धर्म द्वारा सिद्ध होती है। सामान्य धर्म के अंतर्गत मनुने उन दस धर्मों का परिगणन कराया है - धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, घी, विद्या, सत्य और अक्रोध। जैनधर्म में महाव्रत-अणुव्रत और बौद्धधर्म में शील के द्वारा इस आचारसंहिता का ही उद्बोधन किया गया है। इन आचाररूप धर्ममें व्यक्ति का स्वतःपूर्ण विकास लक्षित है साथ में सामाजिक रूप में शांतिमय सह अस्तित्व भी। अतः रागादि कषायों पर विजय पाने के बाद ही व्यक्ति की चेतना अपने-पराये के भेद से उपर ऊठती है और वह स्व-अर्थी से सर्वार्थी बनता है। वैयक्तिक आचार की विशुद्धि सारे संसार की आधारशीलारूप है। क्योंकि व्यक्ति ही समाज का केन्द्र है। और शांतिमय समाज की स्थापना के लिये व्यक्ति का नीतिधर्म से प्रेरित अहिंसापूर्ण आचार ही महत्त्व का परिबल है।

प्राकृत भाषासाहित्य में मनोवैज्ञानिक निरूपण

प्राकृत भाषासाहित्य में दर्शन - सिद्धांत, आधार और कथा-काव्य तथा अन्य प्रकीर्ण विषयों का आलेखन हुआ है। संस्कृति, समाज, इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अन्य शास्त्र तथा विज्ञानों के साथ मनोविज्ञान के साथ भी उसका अतूट नाता रहा है।

प्राकृत साहित्य का प्रायः आगम और आगमेतर परम्परामें हम विभाजन कर सकते हैं। आगमोंमें जैन दर्शन के सिद्धांत और आचार परंपरा का जिनेन्द्र कथित निरूपण है। आगमेतर साहित्य में काव्य-कथा तथा अन्य प्रकीर्ण विषयों का समावेश हो सकता है।

आगम साहित्य में निरूपित-विषय-विचार का मनोविज्ञान के साथ किस तरह से संबंध जुड़ा हुआ है। इस बारे में हम प्रथम सोचेंगे।

जैसे हम जानते हैं कि आगम में महावीर स्वामी प्रबोधित जैनदर्शन के सिद्धांत और आचार का वर्णन है। प्रश्न, यह हो सकता है कि मनोविज्ञान को भला धर्म-दर्शन से क्या तालुक ?

मनः एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो :

मैत्राणि-योगसूत्र की इस पंक्ति में निरूपित तथ्य का समग्रतया - या अंशतः प्रत्येक दर्शनपरम्पराने स्वीकार किया है।

मन की सब गति-विधि की नींव पर ही जैनदर्शन भी आधारित है। सब दर्शनपरंपराओं का प्रधान उद्देश मनुष्य का आध्यात्मिक उत्कर्ष है। और मनुष्य या मानव यह है, जो मन से प्रेरित होता है। इस लिये अन्य दर्शन - परंपराओं की तरह जैनदर्शन में भी मन की सूक्ष्माति सूक्ष्म गति - विधि के बारे में गहन दृष्टि

से अध्ययन किया गया है। मन का स्वरूप, स्थान और कार्य के बारे में अनेकविध मतं व्यक्त है, लेकिन मानव अस्तित्व और उत्कर्ष के संदर्भ में मन का महत्त्व अपरिहार्य है। जिस तरह मनोविज्ञान के अध्ययन में मन ही केन्द्रवर्ती विषय है। इस तरह प्राकृत साहित्य के यह अति मूल्यवान् कोशरूप आगमपरंपरामें मन को मध्यवर्ती बिन्दु रख कर मनुष्य की आत्मिक उन्नति के बारे में सोचा गया है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान के साथ उसका अतूट संबंध है।

मन के प्रकार :

स्वरूप - विश्लेषण के संदर्भ में जैन विचार में मन के मुख्य दो प्रकार बताये गये हैं : द्रव्य-मन और भाव-मन। मन के भौतिक-रूप को द्रव्य मन और चेतन रूप को भावमन कहा गया है। द्रव्यमन और भावमन अन्योन्य एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैन दर्शनने मन और शरीर का अन्योन्य प्रभावक संबंध भी स्वीकृत किया है। मन नैतिक जीवन की आधारभूमि है। इस दृष्टि से आचार्य हेमचंद्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं। विक्षिप्त मन, यातायात मन, श्लिष्ट मन और सुलीन मन।

विक्षिप्त मन चंचल, बहिर्मुखी और अनेक संकल्प - विकल्प से युक्त होता है। मन की शान्ति यहाँ संभवित नहीं है। यातायात मन योगाभ्यास की प्रारंभ की अवस्था सूचित करता है। कभी बाह्य विषयों के प्रति आकर्षित हो कर संकल्प - विकल्प करता है, तो कभी भीतर में स्थिर होता है। यातायात चित्त कभी अंतर्मुखी और कभी बहिर्मुखी होता है। श्लिष्ट मन स्थिरता की अवस्था को सूचित करता है। विचार या ध्यान का आलंबन प्रशस्त विषय होता है और शान्ति की अनुभूति भी होती है। वासनाओं अथवा ईच्छाओं का सर्वथा लोप होना यह मन की सुलीन अवस्था का द्योतक है। यह मन की निरुद्धावस्था है और सब संकल्प विकल्प का लोप हो जाता है।

इस तरह ये मन की चार क्रमिक अवस्थाएँ हैं, जिनमें चित्त अपनी स्वाभाविक, स्थिर, शान्त, आनंदमय अवस्था क्रमशः प्राप्त करता है।

जैनदर्शन में राग और द्वेष ये दो कर्म-बीज और कर्म-मय जीवन के प्रेरकसूत्र माने गये हैं। इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है, तब उन विषयों में आसक्ति तथा तृष्णा का भाव जागृत होता है जो रागप्रेरित है। और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है तो धृष्णा या विद्वेष का भाव उत्पन्न होता है। राग-द्वेष की ये वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक

अधःपतन के कारणरूप बनती हैं। आत्मा को क्लुषित करता है, वह कषाय है। चार कषायमें से माया और लोभ रागात्मक है। क्रोध और अहंकार द्वेषात्मक है।

महावीर स्वामीने कहा है - छिदाहि दोसं विणयेज्ज रागं. एवं सुही होहिंसि संपराये। - सुख होने के लिये राग को दूर करना और द्वेषका छेदन करना। रागद्वेषादि भावनाओं का न होना ही अहिंसा है। जैन दर्शन में पांच महाव्रतों में अहिंसा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है - और अहिंसा की परिभाषा श्री अमृतचंद्राचार्यने इस तरह दी है :

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनाम भवत्सर्हिसेति ।

तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

रागद्वेषादि भावनाओं का न होना ही अहिंसा है। व्यक्ति के जीवन में और समाष्ट्रिमें शांति की स्थापना के लिये अहिंसा ही सब से बड़ा प्रेरक बल है। इस लिये मोक्षमार्ग के संदर्भ में जैन आधार शास्त्र की नींव रागद्वेषादि कषायों का क्षयोपक्षम ही है। रागद्वेषादि कषायों को निर्मूल करना ही उसका निर्दिष्ट ध्येय है। क्रोध, मोह, माया, मान, लोभ, अहंकार आदि अप्रशस्त भावनाओं की सीधी असर शरीर के कोषों पर होती है और शरीर कैसे व्याधिग्रस्त बनता है, उसका गहन अभ्यास भी यहाँ किया गया है। शरीर और मनकी तंदुरस्ती के लिये मन का शांत-स्वस्थ और प्रसन्न रहना अनिवार्य है। इस तथ्य का आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है। जिसका निदर्शन हमें आगम और आगमेतर साहित्य में भी मिलता है।

इन्द्रियों के विषय नियत हैं - वे अपने-अपने नियत विषयों को ग्रहण करती हैं। आंखें देख सकती हैं, सुन नहीं सकतीं। कान सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। मन भी इन्द्रिय है, किन्तु इसका विषय नियत नहीं है। वह पांचों इन्द्रियों का प्रवर्तक है। इसीलिए यह शक्तिशाली इन्द्रिय है। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर मनोविजय पर अधिक बल दिया गया है। वह इसीलिए कि एक मन को जीत लेने पर पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। ब्राह्मण के वेश में आए हुए इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा - 'आप अपने शत्रुओं को जीतकर प्रवर्जित हों तो अच्छा रहेगा।' नमि ने कहा - 'बाह्य शत्रुओं को जीतने से क्या? जो एक मन को जीत लेता है, वह पांचों इन्द्रियों को जीत लेता है। जो इन्द्रियों को जीत लेता है, वह समुचे विश्व पर विजय पा लेता है।' शंकराचार्य से पूछा गया - 'विजितं जगत् केन' - संसार को जीतनेवाला कौन है? उन्होंने कहा - 'मनो हि येन' जिसने मन को जीत लिया, उसने सारे संसार को जीत लिया।

कबीर ने कहा है -

“मन सागर मनसा लहरी, बुड़े बहुत अचेत ।
कहहि कबीर ते बांधि है, जिनके हृदय विवेक ॥
मन गोरख मन गोविन्दो, मन ही औच्चड होइ ।
जो मन राखे जतन करि, तो आपे करता होई ॥”

चंचल चित्त सागर की ऊर्मियां हैं तो शान्त-मन अनन्त सागर है। मन पर विजय पाने का एकमात्र सूत्र है - जागरूकता, विवेकी होना। मन जब जागरूक - सावधान होता है, तब वह अपनी चंचलता पर नियन्त्रण कर लेता है।

मन पर विजय पाना कठिन अवश्य है किन्तु असंभव नहीं। अभ्यास से यह सिद्ध हो सकता है। मन को इतना खुला भी मत छोड़ो कि वह नियन्त्रण के बाहर हो जाए और उसका इतना दमन भी मत करो कि वह और अधिक चंचल बन जाए। उसका ठीक - ठीक नियन्त्रण होना आवश्यक है। जो मन असत् चिन्तन या क्रिया में प्रवृत्त होता है, उसे साधना द्वारा सत् चिन्तन या क्रिया में प्रवृत्त किया जा सकता है।

जैन दार्शनिक साहित्य में मन के स्वरूप का और भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे चिन्तन हुआ है। इसके साथ आध्यात्मिक उन्नति में मन का सहयोग प्राप्त करने के लिये जो तपोमार्ग का निदर्शन हुआ है, यह भी मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। आगम साहित्य में - आचारांग उपासकदशांग, उत्तराध्ययनसूत्र आदि में साधु और श्रावकों के लिये तपोमार्ग का जो निदर्शन हुआ है - यह ठीक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। जैन, बौद्ध, हिन्दु आदि धर्मों में आध्यात्मिक उन्नति के लिये मन की शांत, स्वस्थ, प्रसन्न अवस्था को अप्रतिहार्य ढंग से आवश्यक मानी है। समग्र आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य चित्त की वासना, संस्कार एवं संकल्प - विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। जैनदर्शन में साधु और श्रावकों के लिये महाव्रत, अणुव्रत, शिक्षाव्रत, गुणव्रत, समिति, गुप्ति, षडावश्यक आदि और आहार-विहार विषयक जिन नियमों का आदेश दिया गया है ये चित्तनिरोध के लिये बहुत सहायक है।

आगम में तप के दो प्रकार बताये हैं : बाह्य और आभ्यन्तर। ये भेद केवल औपचारिक नहीं हैं। शरीर के साथ संलग्न कठिन तपश्चर्या अथवा बाह्य तप, और मानसिक क्रियाओं को संयमित करनेवाला आभ्यन्तर तप - दोनों शरीर-मन पर अपना प्रभाव रखते हैं। बाह्य तप भी अंततः मन की शुद्धि के लिये हैं, और आभ्यन्तर

के बिना बाह्य तप की सफलता - सार्थकता संभवित नहीं है ।

अनशन - उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता - ये बाह्य तप हैं - इससे इन्द्रियों की स्वच्छंदता दूर होती है, संयम का जागरण होता है, दोषों का प्रशमन होता है, और संतोष की वृद्धि होने से मन ज्यादातर शान्त बनने लगता है । चित्त अंतर्मुख बनता है ।

तप से शरीर स्वास्थ्य बढ़ता है, साथ साथ मनोवृत्ति और मनोवलण में भी समुचित परिवर्तन होते हैं । अनशन से व्याधिविमुक्ति, संयम, दृढता, सद्धान्यप्राप्ति और शास्त्राभ्यास में रुचि उत्पन्न होती है । उणोदरी का प्रयोजन वात-पित्त-कफजनित दोषोंका उपशमन, ज्ञान-ध्यानादि की प्राप्ति है । वृत्ति-संक्षेप से भोज्य पदार्थों की इच्छाओं का निरोध, भोजनविषयक चिंता का नियंत्रण होता है, मनका बोज कम होता है और भोगलिप्सा भी क्षीण होती है । रसपरित्याग से इन्द्रियनिग्रह होता है, स्वाध्याय और ध्यान प्रति रुचि उत्पन्न होती है । कायक्लेश से शरीरसुख की एषणा में से मुक्ति और कष्ट होने पर भी मन को समत्वभाव में स्थिर करने की शक्ति मिलती है । प्रतिसंलीनता से ध्यानसिद्धि की ओर साधक आगे बढ़ सकता है ।

आभ्यंतर तप मनोवैज्ञानिक सत्य पर ही आधारित है । उसका मुख्य उद्देश मनके उर्ध्वकरण का है । कषायों से युक्त, विक्षिप्त, चंचल मन को आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाने में आभ्यंकर तप सहायरूप बनता है । दोनों प्रकार के तप साथ साथ होते हैं, एक दूसरे के लिए सहायक है । वह साधक के चित्त को स्वस्थ, शांत, कषायरहित और एकग्र बनाता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि की साथ साथ व्यवहार जीवन में भी अति आवश्यक है । जीवन के सर्व क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए मन का नियंत्रण अनिवार्य है ।

मनः शुद्धयेव शुद्धिः स्याद, देहिनां नात्र संशयः ।

वृथा तद् व्यतिरेकेण, कायस्येव कदर्थनम् ॥

इसमें कोई संशय नहीं की मनुष्यों की शुद्धि, पवित्रता मानसिक शुद्धि से होती है, मानसिक पवित्रता के बिना केवल शरीर को कदर्थित करना योग्य नहीं है ।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान आभ्यंतर तप है । प्रायश्चित्त में स्वयं को देखना और रूपान्तरित करना है । स्व-दोषों का शुद्धिकरण मनः शुद्धि की ओर ले जाता है । विनय का अर्थ है, अपने आपको अहंकार से मुक्त करना । अहंकार को जीते बिना व्यक्ति मृदु-विनम्र नहीं बन सकता । वैयावृत्य अर्थात् सेवा-

शुश्रूषा में नम्रता का भाव और करुणापूर्ण संभवाव निहित है। स्वाध्याय से वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, चित्त का भटकना कम हो जाता है। साधक अपने अन्तःस्तल में उठनेवाली तरंगों से सम्यक् रीत से परिचित हो जाता है, तब चित्तका निरोध सहज होता है। और परिशुद्ध चित्त से किया गया ध्यान साधक को निर्वाणसुख का अनुभव कराता है।

समणसुत्त में भी कहा गया है कि -

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमगगलं ।
 खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥
 तवनाराजुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
 मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

- श्रद्धा का नगर, तप और संवर का अर्गल, क्षमा का बुरज बनाकर, और त्रिगुति (मन, वचन, कर्मा) से सुरक्षित अजेय, सुदृढ प्राकार की रचना करके तपरूपी बाणों से युक्त धनुष्य से कर्म के कवचकों छेद कर (आंतरिक) संग्राम का विजेता मुनि संसार से मुक्त बनता है।

मनोनिग्रह का अर्थ सिर्फ इन्द्रियदमन या वृत्तियों का निरोध मात्र नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान ने केवल दमन, निरोध या निग्रह को चित्त विक्षोभक कारण माना है। इससे वृत्तियाँ फिर कभी विकृत बनकर जागृत होने की पूरी संभावना रहती है। जैनदर्शन में वर्णित १४ गुणस्थानों में से ११वें गुणस्थान तक पहुँच कर साधक की पुनः पतित बनकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाने की शक्यता का स्पष्ट निर्देश इसी तथ्य के आधार पर किया गया है। यहाँ सिर्फ इन्द्रिय निरोध की बात नहीं है, लेकिन वासनाओं का क्रमिक क्षय करके वासनाशून्यता और वृत्तियों का उद्घातिकरण भी अभिप्रेत है। वृत्तियों का उद्घातिकरण ही आध्यात्मिक साधना में सहायरूप बन सकता है। धर्मशिक्षण का अर्थ है मन को सद्वृत्तियों में जोड़ देना। दसवेयालियमें स्पष्ट कहा है।

उयसमेण हणे कोहं, माणं मद्वया जिणे ।

मायं अज्जव - भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥

- क्रोध को उपशम से, मान को मृदुता से माया को आर्षव से और लोभ को संतोष से जीतें। इस समग्र साधनापद्धति का लक्ष्य चित्त की इस वासना संस्कार एवं संकल्प - विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करता है।

जैनदर्शन में लेश्या का निरूपण भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो

आधुनिक मनोविज्ञान से बहुत मिलता-जुलता है। लेश्या का सिद्धांत जैनदर्शन का अभिनव मनोवैज्ञानिक प्रदान है।

लेश्या जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका सम्बन्ध मानसिक विचारों या भावों से है। यह पौद्गलिक है। मन, शरीर और इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं। मनुष्य बाहर से पुद्गलों को ग्रहण करता है और तदनुरूप उसकी स्थिति बन जाती है। आज की भाषा में इसे 'ओरा' या 'आभा मंडल' कहा जाता है। आपके विचारों या भावों का प्रतिनिधित्व शरीर से निकलने वाली आभा प्रतिक्षण कर रही है। वह रंगों के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है। लेश्या के नामों से यह अभिव्यक्त होता है कि ये नाम अन्तर से निकलने वाली आभा के आधार पर रखे गए हैं। उनका जैसा रंग है, व्यक्ति का मानस भी वैसा ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त में रंगों का प्राधान्य है। कृष्ण, नील और कपोत - अप्रशस्त हैं, तेजस, पद्म और शुक्ल - प्रशस्त है। वैज्ञानिकों ने 'ओरा' के प्रायः ये ही रंग निर्धारित किए हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि बाहर के रंग भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। बाहरी रंगों का ध्यान - चिन्तन कर हम आन्तरिक रंगों को भी परिवर्तित कर सकते हैं।

मन एक ऐसा कर्मस्थल है जहाँ से शुभ और अशुभ, सम्यक् अथवा मिथ्या सभी प्रकार के कार्य प्रस्फूर्तित होते हैं। मृग - मरीचिक्रा तृष्णा का उद्भवस्थान वही है और निर्वाण की शांतिमय अनुभूति भी इसीके माध्यम से होती है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक दर्शन प्रणाली में मन पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है। बौद्धपरंपरा में भी मन के संदर्भ में गहन चिन्तन किया गया है। 'मनुपुब्बंगमाधम्मा' और 'फन्दनं चपलं चित्तं' जैसे वाक्य मन के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट करते हैं।

आगम साहित्य का यह जो दार्शनिक भाग है, उसका तो मनोविज्ञान के साथ गहरा नाता है ही, लेकिन उसकी एक विशेषता यह रही है कि आगमों में विभिन्न उदाहरणों, दृष्टान्तों, उपमाओं और लोकप्रचलित कथाओं द्वारा बड़े प्रभावशाली और रोचक ढंग से संयम, तप और त्याग का प्रतिपादन किया है। इन कथाओं में भी पात्र परिस्थिति आदि का वर्णन मनोविज्ञान के तथ्यों के आधार पर किया गया है। आगमिक कथाओं का साहित्य भी विस्तृत है, अतः यहाँ केवल थोड़े ही दृष्टान्त हम देखेंगे। नायाधम्मकहाओं में से 'अण्डक' की कथा में जिनदत्तपुत्र और सागरदत्तपुत्र की संशयरहित और संशययुक्त मानसिक परिस्थिति और इसकी प्रतिक्रियारूप

शारीरिक क्रियाओं का और इसके परिणाम का यथातथ निरूपण किया है। रोहिणीज्ञात अध्ययन में धन्य सार्थवाहने चारों पुत्रवधुओं को गेहूँ के पाँच पाँच दाने दिये और उनका प्रतिभाव देख लिया। पुत्रवधुओं की कार्यक्षमताओं पहचान कर उनकी योग्यतानुसार प्रथम बहु को घर की रसोई बनाने का, रक्षिता को घर की सारी वस्तुओं की देखभाल करने का काम दिया और रोहिणी को घर का सारा कार्यभार सौंप दिया। यहाँ पुत्रवधुओं की कार्यक्षमता पहचानने का सारा तरीका मनोवैज्ञानिक ढंग का ही है। आवश्यक निर्युक्ति में केवल, शुष्क ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया - कर्म कैसे निरर्थक है, यह बताने के लिये मर्मस्पर्शी दृष्टान्त का आलेखन किया है।-

जहा खरो वंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु वंदणस्स ।

एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोग्गईण ॥

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।

पासंतो पंगुलो दड्ढो, धायमाणो अ अंधओ ॥

संजोगसिद्धिइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।

अंधो य पंगू वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठु ॥

- जैसे चंदन का भार ढोनेवाला गधा भार का ही भागी होता है, चन्दन का नहीं, उसी प्रकार चारित्र से विहीन ज्ञानी केवल ज्ञान का ही भागी होता है, सद्गति का नहीं। क्रियारहित ज्ञान और अज्ञानी की क्रिया नष्ट हुई समझनी चाहिए। (जंगल में आग लग जाने पर) चुपचाप खड़ा देखता हुआ पंगु और भागता हुआ अंधा दोनों ही आग में जल मरते हैं। दोनों के संयोग से सिद्धि होती है : एक पहिये से रथ नहीं चल सकता। अंधा ओर लंगड़ा दोनों एकत्रित होकर नगर में प्रविष्ट हुए। अन्य आगमों में भी ऐसी बहुत कथायें मिलती हैं। यहाँ गधे की जड़ता, पंगुकी निराधार अवस्था और भागता हुआ निसहाय अंधा-इन तीनों की मनःस्थिति का यथातथ चित्रण हुआ है।

आगमों के अतिरिक्त भी अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची आदि प्राकृत भाषाओं में कथा और काव्यसाहित्यका विपुल निर्माण हुआ है। इन साहित्य में मानवजीवन ही प्रतिबिंबित हुआ है। अतः मानवमन के संकुल रहस्यों का उद्घाटन उसमें सहजरूप से ही हुआ है। मानवमन की सूक्ष्माति सूक्ष्म गति-विधि, वृत्ति-विचार और उनसे प्रेरित शारीरिक क्रियायें - उन सबका सचोट, प्रभावक और मानसशास्त्रीय आलेखन हमें जगह जगह पर मिलता है। उद्योतनसूरिकृत कुलवयमाला की सफल कथा में इस तरह के दृष्टान्त बारबार मिलते हैं। कथा के आरंभ में ही

सज्जनों से प्रीति और दुर्जनों से भीति की बात करते हुअे कविने दुर्जन के संदर्भ में श्वान, कौवा, और गर्दभ के स्वभावविशेषका वर्णन दिया है और, इन की तुलना में दुर्जनों की निम्नतर कोटिका निदर्शन दिया है। दुर्जनों की मनोवृत्ति के साथ यहाँ श्वान, कौवा और गर्दभ की वर्णित लाक्षणिकताओं उनकी सहज प्रकृति का वास्तविक ढंग से परिचय देती है। राजकुमार कुवलयचन्द्र कुवलयमालाको प्राप्त करने के लिये विजयापुरी नगर के प्रति प्रयाण करता है। वहाँ नगर की समीप में पहुँचने के बाद, स्त्रियों का एक वृन्द - जो कुलवयमाला के सौंदर्य के बारे में बातें कर रहा था - वह सुनता है। इन स्त्रियों ने अपने मनोभावों को यहाँ जिस तरह अभिव्यक्त किये हैं - इस से स्त्रीस्वभाव का यथातथ परिचय मिलता है। मठ के छात्रों के संवादों में भी इसी तरह उनकी मनोवृत्ति प्रगट होती है। कुवलयमाला और कुवलयचन्द्र की कामप्रेरक मनोवस्था का अति सूक्ष्म रूप से आलेखन हुआ है। लगता है कथाकार मानवमन के नानविध रहस्यों के अभ्यासी और बड़े जानकार थे।

महेश्वरसूरि रचित णाणपंचमीकहामें सूत्ररूप गाथाएँ हैं - जिनमें मानवजीवन के रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। जयसेणकहा में स्त्रियों के प्रति सहानुभूतिसूचक सुभाषित कहे गये हैं :

वरि हलिओ वि हु भत्ता अनन्नभज्जो गुणेहि रहिओ वि ।

मा सगुणो बहुभज्जो जइराया चक्कवट्ठी वि ॥

- अनेक पत्नीवाले सर्वगुणसंपन्न चक्रवर्ती राजाकी अपेक्षा गुणविहीन एक पत्नीवाला किसान कही श्रेष्ठ हैं ।

दरिद्रता की विडंबना देखिये -

गोट्ठी वि सुट्टु मिट्ठु दालिद्विडंबियाण लोएहि ।

वज्जिज्जइ दुरेण सुसलिलचंडालकूवं व ॥ (गुणानुरागकहा)

- जिसकी बात बहु मधुर हो लेकिन जो दरिद्रता की विडंबना से ग्रस्त है, ऐसे पुरुष का लोग दूर से ही त्याग करते हैं; जैसे मिष्ट जलवाला चांडाल का कूआँ भी दूर से ही वर्जनीय होता है ।

यहाँ व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का समष्टि के संदर्भ में औचित्यपूर्ण आलेखन हुआ है ।

देवेन्द्रगणिसूरि रचित आख्यानमणिकोष के प्रभाकर-आख्यान में जनसामान्य की वेदना-संवेदनाओं को सामाजिक संदर्भ में चित्रित करते हुए धन-उपार्जन का

महत्त्व सूत्रात्मक गाथा के रूप में प्रगट किया है ।

बुभुक्षितैव्यकिरणं न भुज्यते पिपासितेः काव्यरसो न पीयते ।

न च्छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवाजंयनिष्कलाः कलाः ॥

भूखे लोगों के द्वारा व्याकरण का भक्षण नहीं किया जाता, प्यासों के द्वारा काव्यरस का पान नहीं किया जाता । छन्द से कुल का उद्धार नहीं किया जाता, अत एव हिरण्य का ही उपार्जन करो, क्योंकि उसके बिना समस्त कलायें निष्फल है ।

मानवमन की उर्मि, आशा, आकांक्षा, वेदना, संवेदना सभी का मार्मिक निरूपण प्राकृत काव्य साहित्य में भी मिलता है । गाथासप्तशति के अधिकांश श्रृंगाररस से पूर्ण मुक्त को में प्रियमिलन का उल्लास और विरहीजनों की विरहदशा की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ मन और शरीर के भाव-विभाव का भी आलेखन है । अन्यत्र भी अधिकांश रूप में मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित पात्र परिस्थितियों का वर्णन प्राप्त होता है । भास, अश्वघोष आदि के नाटकों के प्राकृतभाषा के संवादों में भी मानवमन के भीतर की चहल-पहल का सचोट आलेखन हुआ है ।

जैसे हमने पहले ही देखा कि मानवजीवन के विविध पहलुओं का ही प्रतिबिम्ब साहित्य में दृष्टिगोचर होता है । और मन ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा प्रेरक बल है । चाहे वहाँ वैज्ञानिक तरीके से मन का परीक्षण नहीं किया गया है - अलबत्त दार्शनिक साहित्य में तो इस दृष्टि से भी मन का अभ्यास हुआ है - तथापि साहित्यमें मन केन्द्रवर्ती घटना के रूप में रहा है, और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अन्वेषण में भी यह साहित्य अपना प्रदान कर सकता है ।

पादटीप

- | | |
|-------------------------------|---|
| १. उत्तराध्ययन - २२ | २. नियमसार, व्यवहारचरित्र, गाछ ५६ से ६५ |
| ३. उत्तराध्ययन - २४/१-२ | ४. उत्तराध्ययन - २९/७ |
| ५. उत्तराध्ययन - ३४/३, ५६, ५७ | ६. कुवल्यमाला - परिच्छेद - २४३ |

संदर्भ ग्रंथ

१. प्राकृतिक साहित्य का इतिहास - डॉ. जगदीशचंद्र जैन
२. सम्बोधि - युवाचार्य महाप्रज्ञ
३. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - भा. १-२, डॉ. सागरमल जैन
४. नियमसार
५. समणसुत्त
६. उत्तराध्ययन

प्राकृत भाषा साहित्य में निरूपित शांतिमय सहजीवन की संकल्पना

सुख और शान्ति एक विशेष अनुभूति है, जिसके लिये मनुष्य को सतत चाहना रहती है। सुख शरीर के भौतिक क्षेत्र का विषय है, जब की शान्ति आंतरिक है। सुख का अर्थ है - सु = अच्छी तरह से, ख = इन्द्रियों का रहना। पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच ज्ञानेन्द्रिय जिस अवस्था में अच्छी तरह रह सके, तृप्ति का अनुभव कर सकें, वह अवस्था सुख की अवस्था है। शान्ति मानसिक है। मन वृत्तियों के संघर्ष से रहित, उद्वेगों से रहित और सुस्थिर होता है, तब वह शान्त होता है और शान्ति की अनुभूति होती है।

शान्ति व्यक्तिगत तथा सामूहिक - दो प्रकार की होती है। यद्यपि और समूह अन्योन्याश्रित है। एक व्यक्ति अत्यन्त आंदोलित एवं अशान्त समाज के अंदर रहते हुए भी शांतिपूर्वक अपनी जीवनचर्या व्यतीत करता रहता है - जैसे उदाहरण कभी कभी हमें मिलते हैं, लेकिन यह अपवाद है।

सामान्यतः आन्तरिक शान्ति के संबंध में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर अवलंबित रहते ही हैं। अपनी दैनिक शान्ति प्रार्थनाओं में हम अपनी व्यक्तिगत शान्ति का संबंध इसी आधार पर द्यावा-पृथ्वी से लेकर जड़ एवं चेतन विश्वदेवों के साथ संयुक्त करते हैं। मेरा मन शान्त तभी रह सकता है जब मेरे चारों ओर का वातावरण अशान्ति रहित हो। यदि बाहर अशान्ति है तो अंदर शान्ति नहीं रह सकेगी। वैदिक संस्कृति में व्यक्तिगत एवं सामूहिक यज्ञ-भावना इस शान्ति का मूल आधार मानी गई है। वास्तव में शान्ति मन की एक दशा है। शान्ति भीतर से आती है, बाहर से नहीं। यदि चित्त उद्विग्न है तो बाहर शान्ति होने पर भी वह शान्ति का अनुभव नहीं करेगा।

स्वस्ति अर्थात् कल्याण सभी की चाहना है। संहिताओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र कल्याण विषयक ऋचायें बिखरी पड़ी हैं। वैदिक मानव की प्रतिज्ञा थी की 'यह मेरा मन कल्याणकारी विचारोंवाला हो।' चारों ओर से हमें शुभ विचार प्राप्त हो।-

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वः । (ऋग्वेद - १-८-८६)

वैदिक आर्य के मनमें अपने, दूसरों तथा समस्त समाज के प्रति कल्याण की व्यापक उदार भावना विद्यमान थी। वह देवों से अपने कल्याणकारी कामना तो करता ही था, साथ में ऐसे मन, वाणी और बुद्धि की याचना करता था कि जिससे अन्य का कल्याण भी कर सके।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसका लक्ष्य केवल सुख शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का ही था। संहिताओं में 'शम्' शब्द सुख अथवा कल्याण के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार स्वस्ति शब्द भी सुख एवं कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्राकृतिक शक्तियों से भी ऋषि सुखकर होने की प्रार्थना करता है। वेदों में शांतिमंत्र बड़ा सुप्रसिद्ध है। जिसमें सब ओर से शांति की कामना की गई है।-

ॐ स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति न्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः

स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु... ॥

'द्यौः हमारे लिए शांतिकर हो', 'अंतरिक्ष शांतिकर हो', 'पृथ्वी शांतिकर हो'... वनस्पतियाँ शांतिकर हो... सभी कुछ शांतिकर हो, सर्वत्र शांति ही शांति हो। वह शांति मुझे भी प्राप्त हो।'

यह शांति की प्रार्थना व्यक्ति और समष्टि सबके लिये थी।

सर्वत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।

प्राकृत भाषा साहित्य में महद् रूप से जैन दर्शन एवं तत्त्वचिंतन का निरूपण है। आगम जैसे चिंतनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त महाकाव्य, आख्यान, कथा आदि साहित्यप्रकारों में भी प्रधानरूप से धर्मसंस्थापना और उसका प्रचार-प्रसार ही उद्दिष्ट है। प्रश्न व्याकरणसूत्र नामक जैन आगम में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पाँचों

महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही है। जैन धर्मकथाओं और काव्यों में जिसका बार बार माहात्म्य बताया गया है वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की भावना हमारे सामाजिक संबंधों की शुद्धि, संवादिता और शांतिमय सहजीवन के लिये ही ज्यादा उपकारक है। लोक-मंगल की भावना उसमें सर्वोपरि है।

जैन धर्म की परिभाषा और स्वरूप का उचित रूप से प्रागट्य इस श्लोक में हुआ है :

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते ।

नास्त्यन्यं पीडनं किञ्चित् जैनधर्मः स उच्यते ॥

यहाँ वर्णित अहिंसा, अनाग्रह अनेकान्त और अपरिग्रह सामाजिक समता की स्थापना के लिए अनिवार्य है। जब पारस्परिक व्यवहार इन पर अधिष्ठित होगा, तभी सामाजिक जीवन में शांति और समभाव संभव होंगे। अहिंसा का मूल आधार आत्मवत् दृष्टि है। मैत्री और करुणा उसका विधायक भाग है। वैयक्तिक जीवन में अपरिग्रह और अनेकान्त दृष्टि तथा सामाजिक जीवन में अहिंसा, यही समत्वयोग की साधना का व्यवहारिक पक्ष है और वही विश्वशांति की प्रस्थापना में सहायक बन सकता है।

यह समत्व की साधना सदाचाररूप धर्म द्वारा सिद्ध होती है, धर्मदर्शन और आचार अत्याधिक संलग्न है। नैतिक नियमों जो धर्म की वजह से निर्दिष्ट किये गये हैं वे मूलतः वैयक्तिक और सामाजिक शांति के भी आधाररूप है। वैयक्तिक आचार की विशुद्धि सारे संसार की आधारशीलारूप है, क्योंकि व्यक्ति ही समाज का केन्द्र है। इसलिए शांतिमय समाज की स्थापना के लिये व्यक्ति का नीतिधर्म से प्रेरित अहिंसापूर्ण आचार का ही प्राकृत भाषा में रचित अनेक साहित्यिक कृतियों महद् अंश से निरूपण हुआ है, एवं माहात्म्य बताया गया है। जैनधर्म में अहिंसा की भावना के साथ सबके प्रति आत्मवत् दृष्टि और मैत्रीभावना का भी महत्त्व बताया गया है - जैसे

संधि लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास ।

तम्हा णहंता ण विधातए ॥ (आचारांग सूत्र - १,३,३,१)

यह लोक - यह जीवन - धर्मानुष्ठान की अपूर्व सन्धि-वेला है। इसे जानकर साधक बाह्य-जगत को अन्य आत्माओं को, प्राणीमात्र को - आत्मसदृश्य अपने समान समझे। किसी का हनन न करे। पीडोत्पादन न करे।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं चण इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि मा, एत्तियेगं जिणसासणं ॥

(बृहत्कल्पभाष्य - ४५-४)

तुम अपने लिए जैसा चाहते हो, वैसा तुम औरों के लिए भी चाहो । अपने लिए जो नहीं चाहते, उसे औरों के लिए भी मत चाहो ।

आचारांग में बताया है -

सव्वेसि जीवितं पियं । (आचारांग - १-२-३-४)

और भी कहा गया है -

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं ण मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणिहं घोरं, निग्गंथा वाज्जयंति णं ॥

(दशवैकालिक - ३)

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता । अतः निर्ग्रन्थ घोर प्राणीवध को वर्ज्य मानते हैं ।

बुद्ध और महावीर के समय में ब्राह्मण शब्द ज्ञातिवाचक बन गया था, उसकी यथार्थ व्याख्या महावीर और बुद्धने बहुत समानरूप से दी है । मानव जन्म से नहि, कर्म से श्रेष्ठ होता है । जन्म से नहीं कर्म से ब्राह्मण बनता है । समभाव से श्रमण होता है और अहिंसादि व्रत और पंचशीलों के पालन से ही ब्राह्मण बनता है । जैसे महावीर स्वामीने कहा है -

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थापरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं भूमि माहणं ॥ (उत्तरा. अ. २५, गाथा-२३)

जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काय से हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

मैत्री भावना के बारे में भी कहा गया है 'मेत्ति भूअेसू कप्पअे ।' - सब के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखो । और

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मित्ति मे सव्व भूअेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥

इसी अर्थ में यहाँ अहिंसा परमो धर्मः - अहिंसा को ही परम धर्म कहा गया है ।

हमारे व्यक्तिगत जीवन में विषयभोग के प्रति तृष्णा राग-द्वेष-मोह-आदि क्लेषादि भावरूप वृत्तियाँ और विचारधारायें हैं, जिनके कारण समाज में हिंसा उत्पन्न होती है। वेरभाव, घृणा, आक्रमकता, विद्वेष आदि वृत्तियाँ सामाजिकता की विरोधी हैं। प्राकृत साहित्य में इसके बारे में अनेक प्रतीकात्मक वर्णन मिलते हैं। जैसे 'कुवलयमाला की कथा में मान, मोह, मद, लोभ और क्रोध की वृत्तियों की विरूपता का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है, और शांति एवं संवादिता की स्थापना के लिए प्रेम, मैत्री, मार्दव और अहिंसा आदि का महत्त्व भी सूचित किया है।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अहंकार भी निजी लेकिन महत्त्व का स्थान रखता है। शासन की इच्छा या अधिपत्य की भावना इसके केन्द्रित तत्त्व हैं। इसके कारण सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता-निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान समय में अति विकसित और समृद्ध राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है - साम्राज्यवृद्धि की वृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टिका प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मन में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उदबुद्ध होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, उसे अपने प्रभाव में रखने का प्रयास करता है। जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों ने अहंकार, मान, ममत्व के प्रहाण का उपदेश दिया है, जिसमें सामाजिक परतंत्रता का लोप भी निहित है। और अहिंसा का सिद्धांत भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धांत स्वतंत्रता के सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध दर्शन एक ओर अहिंसा-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

शांतिमय समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति का नीतिधर्म से प्रेरित अहिंसापूर्ण आचार ही महत्त्व का परिबल है।

अहिंसा आध्यात्म की सर्वोच्च भूमिका है उसी के आधार से व्यक्ति और समष्टि के जीवन में शांति और संवादिता सुस्थापित हो सकती है। अहिंसा की अवधारणा बीजरूप में सर्व धर्मों में पायी जाती है। अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना एवं अद्वैतभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से शांतिमय सहअस्तित्व संभव बनेगा।

श्री वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित का साहित्यिक मूल्यांकन

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी २३ वें तीर्थंकर हैं। उनका समग्र जीवन ही समता है और करुणा का मूर्तिमंत रूप था। अपने प्रति किये गये अत्याचार और निर्मम व्यवहार को विस्मृत कर अपने साथ वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वालों के प्रति भी सहृदयता, सद्भावना और मंगल का भाव रखने के आदर्श का अनुपम चित्र भगवान का चरित प्रस्तुत करता है।

भगवान पार्श्वनाथ के विषय में संस्कृत-प्राकृत भाषा में अनेक चरित्रकाव्य और अन्य साहित्य की रचना हुई है। संस्कृत भाषा में कवि वादिराजकृत सर्गबद्ध काव्य 'पार्श्वनाथचरित' इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। वीतराग सर्वज्ञ पार्श्वनाथ के अनुपम चरित्र का, उनके पूर्वभवों के साथ कविने आलंकारिक भाषामें चरित्र-चित्रण किया है।

कवि और रचना समय :

'पार्श्वनाथचरित' काव्य के अंत में ग्रंथप्रशस्ति में कविने अपनी आचार्य परंपरा और रचना समय के बारे में उल्लेख किया है :

'पार्श्वनाथचरित' काव्य के अंत में ग्रंथप्रशस्ति में कविने अपनी आचार्य परंपरा और रचना समय के बारे में उल्लेख किया है :

शकाब्दे नगवार्धिरघ्नगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनीकथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥

शक संवत् १४७ क्रोधन संवत्सर की कार्तिकी सुदी तृतीया दिन जब कि जयसिंह नामका राजा पृथ्वी का शासन करता था उस समय उक्त वादिराजसूरीने यह भगवान जिनेन्द्र का चरित्र पूर्ण किया था । वे आप लोगों को कल्याण प्रदान करें ।

इस काव्य के रचयिता वादिराजसूरि द्रविडसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ (गच्छ) और असंगल अन्वय (शाखा) के आचार्य थे । इनकी उपाधियाँ षट्दर्कषष्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादी थीं । ये श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मत्तिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि (शाकदायन व्याकरण की टीका) के कर्ता दयापाल मुनि के सतीर्थ या गुरुभाई थे । लगता है वादिराज इनकी एक तरह की पदवी या उपाधि थी, वास्तविक नाम कुछ और रहा होगा पर उपाधि के विशेष प्रचलन से वह नाम ही बन गया । श्रवणवेला से प्राप्त मल्लिषेणप्रशस्ति में वादिराज की बड़ी ही प्रशंसा की गई है ।

वादिराज का युग जैन साहित्य के वैभव का युग था । उनके समय में सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, अभयनन्दि तथा चन्द्रप्रभचरित काव्य के रचयिता वीरनन्दि, कर्नाटकदेशीय कवि रत्न, अभिनवपम्प एवं नयसेन आदि हुए थे । गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता ओडयदेव वादीर्भसिंह और उनके गुरु पुष्यसेन, गंगराज राचमल्ल के गुरु विजयभट्टारक तथा मल्लिषेणप्रशस्ति के रचयिता महाकवि मल्लिषेण और रूपसिद्धि के कर्ता दयापाल मुनि इनके समकालीन थे ।

विषयवस्तु :

काव्य के आरंभ में कवि भगवान पार्श्वनाथ को नमस्कार करते हैं :

श्री वधूनवसंभोगभव्यानन्दैकहेतवे ।

नमः श्रीपार्श्वनाथ दानवेन्द्रार्चिताङ्घ्रये ॥

यज्ञेन्द्र द्वारा पूजनीय चरण कमल वाले, और मोक्ष लक्ष्मीरूपी वधू के नवीन संभोग से उत्पन्न हुये अपूर्व आनन्द को भव्यों के लिये प्रदान करने वाले श्री पार्श्वनाथ हैं, उन्हें हमारा बारंबार नमस्कार है ।

बाद में कविने श्री पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का क्रमशः आलंकारिक शैली में वर्णन किया है, और अंतिम सर्गों में भगवान पार्श्वनाथ के जन्म - बोधि आदि कल्याणकां का भी विशद निरूपण किया है ।

इस काव्य में २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन का काव्यात्मक शैली में वर्णन किया गया है। काव्य १२ सर्गों में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग का नाम वर्ण्यवस्तु के आधार पर दिया गया है। पहले सर्ग का नाम अरविन्दमहाराजसंग्रामविजय, दूसरे का नाम स्वयंप्रभागमन, तीसरे का नाम वज्रघोषस्वर्गगमन, चतुर्थ का नाम वज्रनाभचक्रवर्तिप्रादुर्भाव, पांचवे सर्ग का नाम वज्रनाभचक्रवर्ती चक्रपादुर्भाव, छठे का वज्रनाभचक्रवर्तिप्रबोध, सातवें का वज्रनाभचक्रवर्तिदिग्विजय, आठवें का आनन्दराज्यभिनन्दन, नवम का दिग्देविपरिचरण, दशम का कुमारचरित, ग्याहरवें का केवलज्ञानप्रादुर्भाव और बारहवें का भगवन्निर्वाणगमन है।

काव्य के सर्ग के नामाभिधान अनुसार आरंभ के सर्गों में भगवान पार्श्वनाथ के पूर्वभवका विशद निरूपण कीया गया है। अंतिम तीन सर्गोंमें भगवान पार्श्वनाथ की बाल्यावस्था और किशोरावस्था, केवलज्ञान की प्राप्ति और निर्वाणगमनका आलेखन है।

कविने पार्श्वनाथ स्वामी के पूर्वभवों का विस्तारसे परिचय काव्य के आरंभ में दिया है। सुरम्य देश के महाराजा, उनके मंत्री विश्वभूति का वैराग्य और पुत्र मरुभूति का मंत्री बनना - आदि घटनाओं का आलेखन है। पार्श्वनाथ स्वामी अपने पूर्वभव में मरुभूति थे। उसके पश्चात् क्रमशः वज्रघोष हस्ति रश्मिवेश, वज्रनाभि, और वज्रबाहुके पुत्र आनंद के रूप में उनका जन्म होता है। आनंद के रूपमें जन्म धारण करके तीव्र वैराग्य और तपसे तीर्थंकर फल बांधकर अंत में विश्वसेन राजा की रानी ब्रह्मदत्ता के पुत्र के रूप में अवतार धारण करते हैं।

कविने प्रथम, द्वितीय और तृतीय सर्ग में क्रमशः मरुभूमि और वज्रघोष हस्ति के पूर्वभवों की नानाविध घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ सुरम्य देश, पोदनपुरनगर, अरविंदराजा - मरुभूति और राजा का स्नेह और विश्वासमय संबंध, कमठके अत्याचार, मरुभूति का बन्धुप्रेम, अरविंद राजा का स्वयंभूमुनिसे दीक्षा लेना, मरुभूमि का वज्रघोष हस्ति के रूप में जन्म और अरविंदमुनि से उपदेश प्राप्त कर ब्रतों का पालन करना और कृकवाकुसे काटने से स्वर्ग में जाना - स्वर्ग में उसकी स्थिति - आदि प्रसंगों का सुचारु ढंग से परिचय दिया गया है।

चतुर्थ से नवम सर्ग तक श्री पार्श्वनाथ स्वामी के रश्मिवेग, वज्रनाभि और आनंद के रूप में व्यतीत कीये गये पूर्वभवों का आकर्षक शैलीमें आलेखन है, चौथे सर्ग के आरंभ में ही सुमेरु पर्वत और जंबूद्वीप के विदेहक्षेत्र के विजयार्धकी मनोहर पार्श्व भूमि में विद्युद्देग और विद्युन्माला के पुत्र रश्मिवेग का राग, क्रोध माना माया

और लोभ से विमुक्त तथा ज्ञान से युक्त चरित्र का निरूपण किया गया है। रश्मिवेग मुनिव्रत धारण करते हैं और पूर्वभव के वेरी कमठ, जिसने अजगर का देह धारण किया था - वह उसे निगल जाता है। स्वर्गगमन के बाद वे अश्वपुर के राजा वज्रकीर्य के पुत्र वज्रनाभि के रूप में उत्पन्न होते हैं। वज्रनाभि के लिये चक्ररत्न का प्रादुर्भाव, दिग्विजय करके चक्रवर्ती राजा बनना, चक्रवर्ती का ऐश्वर्य और बाद में वज्रनाभिका वैराग्य - इन सब घटनाओं के साथ षड्ऋतुओं, युद्ध, नगर, वन-उपवन, जलाशय, स्त्री-पुरुषों का कामयोग आदि का आलंकारिक शैलीमें सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इस के बाद अयोध्यामें वज्रबाहु के आनंद नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हो कर मरुभूति का जीव, जिनयज्ञ और तपस्या द्वारा तीर्थंकर के सर्व गुणों से युक्त बनता है। कविने यहाँ जैन धर्म जिनेन्द्र की बड़ी प्रशस्ति और स्तुति की है।

दस-ग्यारह और बारहवें सर्गमें पार्श्वनाथ स्वामी का गर्भ में आना, उनका जन्मकल्याणक, इन्द्रादि देवों द्वारा मेरु पर्वत पर भगवान् का अभिषेक और पूजा, बाल्यकाल, भगवान् का पंचाग्निप को कुत्तप सिद्ध करने के लिये जाना, लकड़ी में से जलते नाग युगल को बाहर निकालना और पंच नमस्कार मंत्र द्वारा उनको मुक्त करना - तपस्वी का असुर होना, विवाह के लिये पिता का आग्रह, पार्श्वनाथ स्वामी द्वारा वैराग्य के लिए इच्छा प्रगट करना, लौकिक देवों का प्रतिबोध देना, भगवान् का तपकल्याणक और पारणा, असुर के रूप में कामठ के जीव का भगवान् को उपसर्ग करना, पद्मावती के साथ धरणेन्द्र का आगमन और भगवान् की सेवा करना, भगवान् का ज्ञानकल्याणक, असुर का नम्र होना, समवशरण की रचना, भगवान् की स्तुति, भगवान् का धर्मोपदेश, भगवान् का विहार, मोक्षकल्याणक, इन्द्र द्वारा स्तुति और अंत में ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति के साथ इस काव्यकृति समाप्त होती है।

काव्य प्रकार :

श्री पार्श्वनाथचरित कृति में महाकाव्य के अनेक लक्षण प्राप्त होते हैं। उसके नामाभिधानकी दृष्टि से यह चरित्र काव्य ही है। जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का - पूर्वभवों के सहित - चरित अंकित होने से चरित्र - महाकाव्य है, ऐसा विद्वानों का भी अभिप्राय है। काव्य सर्गबद्ध है, और बार सर्गों में विभक्त है। महाकाव्य के लक्षणों की अपेक्षा अनुसार ग्रंथ का आरंभ भी भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति से होता है। वादिराजसूरिने इस कृति को पार्श्वनाथ जिनेश्वर चरित महाकाव्य कहा है। अनेक अलंकारों से युक्त शैली में नगर, युद्ध, स्त्री, वन-उपवन, प्रकृति, शीतकाल,

ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल आदि के चित्रात्मक वर्णन यहाँ मिलते हैं। उपमा-उपमेय और उपमान अथवा विरोधी सादृश्यमूलक अलंकारो - दृष्टान्तो के आयोजन में कवि की कुशलता निःशंक प्रशंसनीय है। काव्य के आरंभ के बाद २, ३, और ४ थे श्लोक में श्री पार्श्वनाथ की प्रशस्ति करते हुए वे कहते हैं :

हिंसादोषक्षयातेत पुष्पवर्षश्रियं दधुः
अग्निवर्षो रूपा यस्य पूर्वदेवेन निर्मितः ।
तपसा सहसा निन्ये हृद्यकुंकुमपंकताम् ।
गरुवोऽपि त्रिलोकस्य गुरोर्द्रोहादिवादयः
लाघवं तूलवद् यस्य दानवप्रेरिता ययुः ।

कुपित हुये कमठके जीव असर ने पूर्व वैरके कारण जो बाण छोड़े थे वे जिनके चरणों का आश्रय पाते ही मानो हिंसासे उत्पन्न हुये दोषों को नष्ट करने के लिये ही पुष्पमाला हो गये, तो अग्नि वर्षा की थी वह तप के प्रभाव से सहसा मनोहारी कुमकुम का लेप हो गया, बड़े भारी जो पत्थर फेंके थे वे तीन लोक के गुरु भगवान के द्रोही हो जाने के भयसे ही मानो रुई के समान हलके और कोमल हो गये। भावार्थ अपने वैरी द्वारा उपर छोड़े गये वाणों को जिन्होंने फूलों की माला के समान प्रिय समझा, आग की वर्षा को केसर का लेप मान स्वागत किया और वर्षाये गये पत्थरों को रुई के समान कोमल एवं हलके मान कुछ भी पर्वा न करी।

बाद में कविने गृद्धपिच्छ मुनिमहाराज रत्नकरण्डक के रचयिता स्वामी समंतभद्र, नैयायिकों के अधीश्वर अफलकदेव, अनेकान्त का प्रतिपादन करनेवाले सिंह आचार्य, सन्मति प्रकरण के रचयिता सन्मति, मुनिराज, त्रैसठ शलाका पुरुषों का चरित्र लिखनेवाले श्री जिनसेनस्वामी, जीवसिद्धि के रचयिता अनंतकीर्ति मुनि, महातेजस्वी त्रैयाकरण श्री पालेयकीर्ति मुनि कवि धनंजय, तर्कशास्त्र के ज्ञाता अनंतवीर्य मुनि, श्लोकवार्तिकालंकार के रचयिता श्री विद्यानंद स्वामी चंद्रप्रभचरित के कर्ता वीरनंदस्वामी आदि विद्वद्गजनों का बड़े आदर से और अहोभाव से स्मरण किया है। इस के बाद अनेक अलंकारों से युक्त शैली में नगर, युद्ध, स्त्री, वन-उपवन-प्रकृति, शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल आदि के चित्रात्मक वर्णनों के साथ श्री पार्श्वनाथ स्वामी के चरित्र का निरूपण किया है।

महाकाव्योचित लक्षण :

कृति के प्रत्येक सर्ग के अंत में कविने "श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वरचरिते

महाकाव्ये.... नाम... सर्ग...." इस तरह उल्लेख करके श्री पार्श्वनाथ चरित्र को महाकाव्य कहा है ।

भामह, दंडी, विश्वनाथ, रुद्रट, हेमचंद्राचार्य आदि विद्वानोंने अलग अलग तरीके से महाकाव्य की विभावना और स्वरूप प्रस्तुत कीया है । अनेक कवियों के प्रयोगों और अनेक आचार्यों के मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्त निरूपण के फलस्वरूप संस्कृत महाकाव्य का रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया और वह नये प्रभावों को ग्रहण करता गया । इस समय 'संस्कृत महाकाव्य' कहने से उसके वर्ण्य-विषय और प्रबन्धात्मक रूप-विधान का जौ चित्र सामने आता है उसका वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है । महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए और उसका कथानक बहुते लम्बा और न बहुत छोटा होना चाहिए । कथानक नाटक की संधियों की योजना के अनुसार इस प्रकार संयमित हो कि वह समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके । उसमें एक प्रधान घटना आद्योपान्त प्रवाहित होती रहे जिसके चारों ओर से अन्य उपप्रधान घटनाएँ आकर उसमें पर्यवसित होती रहें । कथानक उत्पाद्य-अनुत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार का हो सकता है ।

महाकाव्य का नायक धीरोदत्त सद्वंशोत्पन्न हो । वह क्षत्रिय या देवता हो तो अधिक अच्छा होगा । नायक का प्रतिनायक भी बल-गुण-सम्पन्न होना चाहिए; तभी तो उसे पराजय देने में नायक की महत्ता है । अन्य अनेक पात्रों का होना भी जरूरी है । नायिकाओं की चर्चा शास्त्रकारों ने महाकाव्य के लक्षण गिनाने में नहीं की है पर कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जिसमें नायिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका न हो ।

महाकाव्य में कथानक के इर्द-गिर्द अनेकानेक वस्तु-व्यापारों का वर्णन नितान्त आवश्यक है । लक्षणाकारों ने इनकी पूरी सूची गिना दी है । संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य का प्रधान लक्षण है कि उसमें घटना-प्रवाह चाहे क्षीण हो पर अलंकृत वर्णनों की प्रधानता होगी ।

नाटक के समान संस्कृत के महाकाव्यों में भी भाव-व्यंजना प्रधान तत्त्व है । भावों को परिपक्व बनाकर रस की योजना अवश्य करनी होती है । रस की उत्पत्ति पात्रों और परिस्थितियों के सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से दिखाई जाती है । श्रृंगार, वीर और शांत रसों में से कोई एक रस प्रधान होता है । अन्य सभी रस स्थान-स्थान पर गौण रूप में प्रकट होते रहते हैं ।

मानवीय घटनाओं और व्यापारों के अतिरिक्त महाकाव्य में अमानवीय और

अलौकिक तत्त्वों का समावेश भी अवश्य कराया जाता है। अतिप्राकृत घटनाओं और क्रियाकलाप का प्रदर्शन कहीं देवताओं के द्वारा कराया जाता है तो कहीं दानवों के द्वारा और कहीं इन दोनों से भिन्न योनि के जीवों द्वारा, जैसे - किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, अप्सरा आदि।

महाकाव्य में विविध अलंकारों की योजना होती है, उसकी शैली गरिमापूर्ण और कलात्मक होती है। उसमें विविध छंदों के प्रयोग का विधान होता है और उसकी भाषा उसकी गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप तथा ग्राम्य शब्द-प्रयोग दोष से मुक्त होती है।

संस्कृत महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों की प्राप्ति है।

श्री पार्श्वनाथ चरित में महाकाव्य के कई लक्षण विद्यमान हैं। वह सर्गबद्ध रचना है, कथावस्तु सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त है; काव्यनायक भारतीय संस्कृति के मूलाधाररूप युग पुरुष है; भाषा साहित्यिक, ग्राम्यत्वदोषरहित, पांडित्यपूर्ण, प्रांजल और प्रौढ़ है; जीवन की विविध अवस्थाओं और अनुभूतियों का चित्रण यहाँ प्राप्त है; प्रकृति के अनेक दृश्यों और वस्तु वर्णनों से अलंकृत है; अलंकारों का सुन्दर प्रयोग योजना है और जीवन के चरम उद्देश्य की महान सिद्धि की उच्च भूमि पर शान्तरस में उसका पर्यावसन होता है। इस तरह महाकाव्य के लक्षणों से संपन्न होने के साथ 'श्री पार्श्वनाथ के अनेक पूर्वभवरूप अवान्तर कथाओं के सहित उनके चरित्र का वर्णन किया गया है।'

अन्य महाकाव्यों में समानरूप से जो कुछ विशेषताएं पायी जाती हैं, ये सब श्री पार्श्वनाथ चरित में भी हैं। जैसे तीर्थंकरों की स्तुति से काव्य का प्रारंभ होना, पूर्व कवियों और विद्वानों का स्मरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, काव्य-रचनार्थ प्रेरणा और सहायता करनेवालों की स्तुति, विनम्रता-प्रदर्शन, काव्य-विषयक के महत्त्व का वर्णन, चरित्र-नायक और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के विभिन्न भवान्तरों का वर्णन कथा के आवश्यक अंग के रूप में यहाँ भी प्राप्त होता है। भवान्तर वर्णन का मुख्य कारण जैनों की कर्म-फल प्राप्ति में अचल आस्था है। परिणाम स्वरूप यह काव्य रोमांचक शैली से युक्त होने पर भी वैराग्यमूलक और शान्तरस पर्यवसायी है।

इस महाकाव्य का उद्देश्य जैन तीर्थंकर के चरित्र वर्णन से जैनधर्म का प्रचार करने का है तथापि उनमें प्रेम और युद्ध का वर्णन पर्याप्त से अधिक मात्रा में मिलता

है। प्राकृतिक वस्तुओं - प्रभात, संध्या, रजनी, चन्द्रमा, नदी, सागर, पर्वत आदि से लेकर स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग - मुख, केश, नाक, आँख, अधर, उरोज, बाहु, त्रिवली, उरु, पाद आदि के रसपूर्ण वर्णन में कवि की रुचि प्रगट होती है। अवसर मिलने पर रति-क्रीडा वर्णन से भी मुख नहीं मोड़ा है। इसी तरह युद्ध-वर्णन में भी उन्होंने रण-प्रयाण से लेकर उसके समस्त कौशलों का वर्णन आयुधों के नाम गिनाते हुये किया है। अपने धर्म के प्रचार के प्रति अत्यधिक सजांग होते हुए भी जैन कवियोंने जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं की है। चरित्र नायक के जीवन के आलेखन में परिवर्तन करना संभव नहीं था, इस लिये शायद अपनी कल्पनाओं से प्रचुर वर्णनों करके अपनी कवित्वशक्ति का परिचय दिया है। प्रेम और युद्ध के वर्णनों में कल्पनाचित्र और अतिशयोक्तिपूर्ण आलेखन भी मिलते हैं।

कविने धार्मिक और साहित्यिक आदर्शों की पृष्ठभूमि की सीमाओं में रहकर, अपने पात्रों और चरित्रनायक की परंपरागत विशेषताओं को चित्रित करने में काफी सफलता पायी है। वाग्विदग्धता और मार्मिक आलेखन से पात्रों का निरूपण हृदयग्राही और प्रभावक बना है। जैसे एक चित्रकार दो-तीन बार के तुलिका - संचालन से एक सजीव चित्र प्रस्तुत करता है, इसी तरह कवि के चरित्रांकन से चरित्र का एक ही चित्र उभरता है। अपनी उर्वर कल्पना के सहारे कवि ऐसी उपमाएं या उत्प्रेक्षाओं की सहाय लेते हैं कि पात्र सजीव हो उठते हैं - मानों चक्षु-गोचर से ही लगते हैं।

चरित्रों के ऐसे रूपांकन में कवि की प्रतिभा निखरती है। कभी कभी विशिष्ट पात्रों के प्रचलित आदर्शों को पात्र में आरोपित करते हैं। जैसे अश्वपुर के राजा वज्रवीर्य का सर्वगुण संपन्नता इस तरह प्रगट की गई है -

प्रवर्तिते यत्र गुणोदयावहे यागसि मानवेहिता ।

नवहिता क्रान्ता मदो न वैभवा नवैभवार्ति प्रथपंति जंतवः ॥

विशेष वादी विदुषां मनीषितो निरस्य दोषनषित् पुरोत्तमम् ।

तदप यं संज्ञदि वज्रवीर्यं इत्युदाहरंति श्रुतवर्त्मवादिनः ॥ (सर्ग ४-६७, ६८)

... इस प्रकार नाना गुणों से शोभित उस अश्वपुर का स्वामी, विद्वानों में श्रेष्ठ राजा वज्रवीर्य था, जिसने कि अपने शासनबल से उस पुर के समस्त दोष दूर कर दिये थे। जिस समय गुणों का भंडार, दया का आगार, पुण्यशाली वह राजा राज्य कर रहा था उस समय लोगों की इच्छायें नवीन नवीन अभीष्ट पदार्थों के आ जाने से पूर्ण हो गई थी। उनका वैभव-प्रवाह बढ़ गया था। इसलिए उसके राज्य

में निवास करनेवाले लोगों ने वैभव की पीड़ा कभी भी न सही थी - 'धन है और अभीष्ट पदार्थ नहीं मिलते' - इस प्रकार का अवसर उन्होंने कभी न पाया था।

पात्र का चरित्र - विकास :

उनके पात्र जो वीर है, वह जन्म से ही वीर है, जो धार्मिक प्रकृति का है, वह जन्म से ही धार्मिक है। जो दुष्ट है, वह जन्म से ही दुष्ट है। उनके चरित्र की रूप रेखा पहले से निर्दिष्ट होती है, उनकी हर क्रियाओं से उनकी वही निश्चित विशेषता ही निखर कर सामने आती है। तब भी आरंभ में मरुभूति और कमठ के पात्रों का चरित्र-विकास अलबत्त निश्चित दिशा में ही प्रतीत होता है। कमठ के पात्र की दुष्टता जन्मान्तर में भी वही रूप से प्रतीत होती है, जब मरुभूति के पात्र में कहीं चढ़ाव-उतार दीखते हैं। उसके पात्रालेखन में वीरत्व और धार्मिकता के विषय में हास, विकास और वृद्धि के लिये अवकाश दिया गया है। कवि हर पात्र को व्यक्तिगत वैशिष्ट्यसे समन्वित करने का प्रयत्न करते हैं। प्राप्त परिस्थिति और घटनाओं में पात्रों की विविध मनोदशाओं का चित्रण भी किया है। जैसे मरुभूमि हाथी का जन्म लेता है तब मुनिवचन के उपदेश सुनने के पहले का उसका रुद्र-रूप, प्रकृति की कठोरता और मुनिवचन सुनने के बाद परिवर्तित स्वभाव की कोमलता का हृदयस्पर्शी निरूपण हुआ है।

वर्णनकला :

कविने पात्र, परिस्थिति, प्रकृति आदि का कल्पनामंडित आलेखन किया है।

नारी-सौंदर्य का वर्णन :

प्राचीन महाकाव्यों की तरह यहां भी कविने नारीसौंदर्य का वर्णन किया है। नारी-सौंदर्य पुरुष के प्रेमोद्रेकका कारण बनता है, जिससे अनेक घटनायें और कथ-व्यापार प्रसूत होते हैं। प्रायः परंपरित उपमानों का ही सौंदर्यवर्णन में उपयोग होता है। प्रत्येक नारी चंद्रमुखी और पीन-पयोधरोवाली है। उनके नेत्र कमलदल जैसे और चाल मत्त गजकी भाँति है, स्त्री-अंगों का फुटकर वर्णन करने के अतिरिक्त कविने नख-शिख वर्णन भी किया है। वह एक प्रकार से रूढिबद्ध सौंदर्य-वर्णन है। शरीर के अंग-प्रत्यंग का क्रमिक वर्णन परंपरायुक्त सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। देवांगनाओं द्वारा तीर्थंकर को जन्म देनेवाली विश्वसेन राजा की रानी सगर्भा ब्रह्मदत्ता के सौंदर्य और अंग-प्रत्यंग का वर्णन इस तरह हुआ है -

यन्नमस्यति सतीमिमां वृषात् कियच्च सदृशं मृगीदृशः ।
 संहतिः स्वयमिव हि तावतामेकशस्तव पदं हि ये गुणाः ॥६८॥
 नैशमेव नयनाभिरामया बध्यते नवसुधारुचे रुचा ।
 विद्ययेव निरवद्यवृत्तया चेतसं च सुदृशा जगत्तमः ॥६९॥
 सुध्रुवो नु वदनेन बंधुना पद्मसारविजयी निशाकरः ।
 संविभागविधिनेव यत्तयोः कांतिसंपदुभयोः प्रवर्तते ॥७०॥
 मुख्यसौरभसमीरसंगतस्पर्दिताधरसरागपल्लवा ।
 निर्मलास्मितसुधानवोद्गमा स्पद्धते मधुवनश्रिया वधूः ॥७१॥

नयनों को मनोहर लगनेवाली चंद्रमा की चांदनी से तो केवल रात्रि का ही अंधकार नष्ट होता है परंतु इस महारानी के दर्शन तो जिसप्रकार निर्दोष चारित्र से भूषित विद्या से चित्त और संसार-सब जगह का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सब अंधकार नष्ट हो गया ॥६८-६९॥

सुंदर भृकुटीवाली महारानी के मुख के साथ साथ ही चंद्रमाने कमलवन को जीता था इसी लिये मानों इन (चंद्रमा और इस रानी के मुख) की कांतिरूपी सम्पत्ति बराबर है । जिस प्रकार चंद्रमा की कांति है उसी प्रकार इस महारानी के मुख की भी है ॥७०॥

इस रानी के लाल अधरपल्लव, मुख की सुगंधित पवन से कंप रहे हैं । निर्मल मुस्कराहट रूपी सुधा का प्रसव कर रहे हैं इसलिये मधुवन की लक्ष्मी के साथ यह स्पर्द्धा ही मानो कर रही है ऐसा मालूम पडता है ॥७१॥

इसके बाद रानी के स्तन, उरुयुगल, नख आदि का वर्णन क्रमशः मिलता है, जो परंपरागत है ।

प्रकृति वर्णन :

महाकाव्य में प्रकृति वर्णन के लिये भी ज्यादा अवकाश रहता है ।

महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं का वर्णन प्रायः आलंबनरूप में, उद्दीपनरूप में, अलंकाररूप में, वस्तुगणना के रूप में और प्रतीक या संकेत के रूप में कीया जाता है । इस महाकाव्य में प्रकृति का अधिकतर वर्णन आलंकारिक योजना के अंगरूप में या पूर्वीस्थित भाव की उद्दीप्ति के सहायक के रूप में हुआ है ।

प्रस्तुत के वर्णन में कविने जिन अप्रस्तुतों का सहारा लिया है, उनमें प्राकृतिक उपादानों की मात्रा बहुत अधिक है। मुख, अलक, नयन, नासिक, दंत, अधर, स्तन आदि का वर्णन करते समय कवि परंपरा अनुसार चन्द्रमा, कमल, सूर्य, भ्रमर, नाग, मृग, मीन, बिम्बफल, पल्लव, वेल आदि से उपमित करते हैं।

कविने व्यक्ति या अंग - विशेष, घटनाविशेष या प्रसंग विशेष को प्रभाव-समन्वित बनाने के लिये प्रकृति के उपमानों से सहायता ली है। कहीं कहीं कविने इस से वर्ण्य विषय को चित्रात्मक या तादृश बनाने में सफलता भी मिली है।

प्रकृति-वर्णन में प्राकृतिक पदार्थों के नामों की लम्बी सूचि देने से कवि की बहुज्ञता प्रकट होती है, लेकिन यह कविकर्म की सफलता नहीं है।

कभी कभी प्रकृति वर्णन उद्दीपन के रूप में और कभी घटनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में भी किया है। वसंत और वर्षाऋतु में प्रकृति उद्दीपनविभाव किस तरह बनती है इसका वर्णन प्रायः मिलता है। कभी कभी प्रकृति में मानवीय भावों का आरोपण भी किया गया है, वहाँ प्रकृति सजीव स्त्री हो उठती है।

ऋतु परिवर्तन के संधिकाल को भी कविने चातुरी से आलेखित किया है। शिशिर की विर्दाय और वसंत का आगमन के समय का वर्णन बड़ा ही मार्मिक और चातुरीपूर्ण है। (पृ. १७६, श्लोक २७, पृ. १७७, श्लोक ३०)

वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं का भी विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध है। यहाँ कवि उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा की सहाय से वर्ण्य विषय को प्रभावक बनाने की कोशिश करते हैं। पाँचवे सर्ग में सब ऋतुओं का आलंकारिक वर्णन है। कामदेव के लोकविजय के उत्सवरूप वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं -

भुवनैकजयोत्सवाय कंतोरिव भृंगीजनमंगलस्वनौधैः ।

मधुना विधिर्नार्पिताकुरश्रीरजनिष्ट द्रुमयष्टिपालिकासु ॥

(सर्ग - ५, ४५) ॥

वसंत ऋतु के प्रभाव से जो वृक्षरूपी यष्टिपालिकाओं (ध्वजा दंडको थामने वाली औरतों) पर नाना अंकुर रूपी लक्ष्मी दीखने लगी और भ्रमरीरूपी स्त्रियों के समूह अपने शब्दों से मंगल रूपी गीत गाने लगे तो उनसे महाराज कामदेव के लोकविजय का उत्सव सरीखा मूलम होने लगा।

ऋतुओं के अतिरिक्त कविने प्रकृति के अन्य स्वरूप जैसे सरोवर, नदी, पहाड, वन, सागर, सूर्योदय, चंद्रोदय, संध्या, रात्रि आदि का भी वर्णन किया है।

इन सब में अधिकांश वर्णन परिपाटी अनुसार है, तब भी कहीं कहीं कवि की सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति और उर्वर कवि-कल्पना का भी परिचय मिलता है।

प्रत्येक ऋतुकाल में प्रकृति में सृष्टि में होनेवाले परिवर्तन का वर्णन तो प्रायः मिलता है। लेकिन यहाँ कविने प्रकृति के उपरांत मनुष्य प्राणियों और वातावरण भी अलग अलग ऋतुओं के आगमन से कैसे प्रभावित होते हैं, उसका वर्णन भी किया है, जो कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचयक है।

जैसे शिशिर ऋतु का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है -

मणिदीधितदीपिकाप्रकाशे निशि कालागुरुपिंडधूपगमें ।

विनिवेशितहंसतूलशय्यापुलिने गर्भगृहे सहेमभित्तौ ॥४०॥

अवतंसितमालतीसुगंधिबिलसत्कुंकुमपंकादिग्धगात्रः ।

वनितभजपंजरोपगूढो युवराजशिशिरं स निर्विवेश ॥४१॥

ऐसे रमणीय समय में मालती की सुगंधिसे सुगंधित, कुंकुमकी पंक्से लित, युवराज वज्रनाभ अपनी प्यारी कंताओं के भुजपंजरों से बद्ध-हुये मणिकिरणों के प्रकाश से प्रकाशित, कालागुरु के धूप से धूपित, हेम की भित्तियों से विशिष्ट भीतरे घरमें हंस के समान श्वेत रूई की शय्या पर ऋतु का आनंद लेने लगे ॥४०-४१॥

जैसे वर्षाऋतु का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है -

अभिमानमुदस्य मस्तके कामदिशं न दधौ सवस्तुके का ।

वनितां मुमुर्चुर्निशम्य के कामपि मेघागमजां मयूरकेकाम् ॥९६॥

उस समय ऐसी कोई स्त्री न थी जो अपने अभिमान को तिलांजलि दे काम की आज्ञा का न पालन करने लगी हो और ऐसा कोई पुरुष न था जो वर्षाऋतु की सूचना देनेवाले मयूरों की हृदयाहारिणी वाणी को श्रवण कर अपनी स्त्री के पास न आया हो।

ऋतु परिवर्तन के संधिकाल को भी चातुरी से आलोक्ति किया है -

ऋतुनां समयेन तेन तीव्रादिव पद्माधिपनंदनप्रभावात् ।

बिजहे वलयं दिशामशेषं कृतपद्मालयवैभवक्षयेण ॥४२॥

शिशिरस्तरुषंडविप्लवानां स विधत्ता क्व नु वर्तते दुरात्मा ।

पटुकोकिलकूजितैर्बसंतो वनमित्याव्हयतीव संप्रविष्टः ॥४३॥

पद्मालयों (सरोवर) के वैभव को नष्ट करने वाले उस शिशिर ऋतुने ज्योंही

पद्माधिपनंदन (बसंत) को आते हुये देखा तो भय से शीघ्र ही समस्त दिशा विदिशाओं को छोड़कर वह भाग गया, और उसके बाद ही “अरे ! वृक्षखंडों का तोड़नेवाला वह दुरात्मा हिंसक शिशिर कहां गया ?” इस प्रकार के वचनों को कोकिलों के शब्दों से कहते हुये के समान वसंत शीघ्र ही वन में प्रविष्ट हो गया ।

नगरवर्णन :

इसके अतिरिक्त वस्तु-वर्णन-अर्थात् देश, नगर, क्रीडा, दुर्ग, सेना, युद्ध की तैयारी और युद्ध आदि का चित्रोपम और प्रभावशाली निरूपण कविने किया है । कृति के आरंभ में अरविंदराजा के पोदनपुरनगर का वर्णन इस तरह दिया है-

वेदीरत्नप्रभोत्कीर्णाः प्रासादाः यत्र पांडुराः ।

सेंद्र चापशरन्मेघविभ्रमं साधु विभ्रते ॥

गृहोग्रोर्नंतरत्नानां स्फूर्ंत्यो रश्मिसूचयः ।

दिवाऽपि यत्र कुर्वति शंकामुल्कासु पश्यताम् ॥

आस्तीपर्णा विपर्णियत्र क्रय्यमाणिक्यरोचिषा ।

प्राप्ताबालातपेनेव व्योमपाथेयलिप्सथा ॥

यत्रेंद्रनीलनिर्माणगृहभित्तीरुपास्थिताः ।

हेमवर्णाः स्त्रियो भांति कालाब्दानिव विद्युतः ॥

भवनोत्तंभिता यत्र पताकाः पीतभासुराः ।

भावयंत्यधने व्योम्नि क्षणदीधितिविभ्रमम् ॥

हरिन्मणिमयारंभामुन्मयूखां जिधित्सया ।

दूर्वोकरुधिया यत्र वत्सा धावंति देहलीम् ॥

(सर्ग-१, ५८ से ६३)

वेदिगृह के रत्नों की प्रभा से व्याप्त जहां के प्रासाद अपनी कांति से इन्द्रधनुष से सहित शरत्कालीन मेघ की शोभा को धारण करते हैं ।

घरों के उन्नत अग्रभाग में लगे हुये रत्नों की चमकती हुई किरणें दिन में भी देखनेवालों को अपने में बिजली की शंका कराती हैं ।

विक्रीके लिये रक्खे हुये माणिक्यों की लाल लाल किरणों से व्याप्त वहाँ का जौहरी बाजार ऐसा मालूम पडता है मानों आकाश मार्ग में गमन करने से पहिले पाथेय (रास्ते में खाने का सामान) को ग्रहण करने की इच्छा से लोहित नवीन सूरज

ही वहां आया हो ।

सुवर्ण के समान पीत वर्ण वाली स्त्रियां जब कभी कहां की इन्द्रनील मणियोंसे निर्मित गृहभित्तियों पर आकर उपस्थित होती हैं तो उनकी नीले मेघों के पास चमकनेवाली बिजलीयोंकी सी शोभा होती है ।

उस नगर के घरों पर ध्वजायें जगमगाते हुये पीले वर्ण की सी हैं सो जिस समय वे पवन के प्रताप से इधर उधर फहराती हैं तो बिना मेघ के ही आकाश में बिजली के चमकनेका संदेह करा देती हैं अर्थात् बिजली का और उनका रंग एक समान होने से लोग मेघ रहित आकाश में उन्हें बिजली समझ सशंक हो जाते हैं ।

उस नगर के घरों की देहलियां चम चमाते हुये मणियों की बनी हुई हैं इसलिये वहा के बछरे (गायों के छोटें बच्चे) उन्हें हरे हरे दूर्वाके अंकुर समझ खानेके लिये दौडते हैं ।

युद्ध के वर्णन में कविने अमित उत्साह बताया है । अहिंसा-मूलक जैन धर्म के उन्नयन और प्रसार के उद्देश्यवाले और श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के चरित्रचित्रण करते हुए काव्य में युद्ध का वर्णन क्वचित् अप्रस्तुत लगता है । लेकिन युद्ध की विभिषिकका प्रत्यक्ष परिचय दे कर अहिंसा का महत्त्व निर्देशित कीया है, ऐसा हम मान सकते हैं । युद्ध के वर्णनों में एकरूपता और पुनरावृत्ति भी है ही । अस्त्र-शत्रु के नाम, सेनाका युद्ध के लिये प्रयाण, युद्ध के प्रसंग आदि में एकरूपता होने पर भी वीररस का उत्साहप्रेरक आलेखन हुआ है । कवि की शब्दयोजना और वर्णानुप्रास का कौशल्य भी इसमें सहायक होता है । वज्रनाभ राजा की विजययात्रा का सुंदर वर्णन छठे सर्ग के आरंभ में मिलता है ।

धर्म-चिंतन :

नीति उपदेश और जैनधर्म के सिद्धांतों का माहात्म्य बतानेवाली कई सूक्तियाँ बीच बीच में बिखरी पड़ी हैं ।

हतवर्तिपधायि मानसं तिमिरं तत्परिमार्जनं ब्रचः ।

गुरुबंधुजनोपदर्शितं कथमुल्लंध्यमतो हितैषिणां ॥ (सर्ग - ७, ८४)

मानसिक अंधकार-अज्ञान (मोह) बड़ा ही प्रबल होता है वह अच्छे बुरे का विचार नहीं करने देता । उसके दूर करने में तैल और वत्तीका दीपक काम नहीं देता । उसके दूर करने वाले तो गुरु के हितकारी वचन ही होते हैं, इस लिये

जो अपने हित को चाहने वाले हैं - सुख से रहना चाहते हैं उन्हें अपने बड़े लोगों के वचन कभी न टालने चाहिये उनका कभी भी उल्लंघन करना उचित नहीं ।

जहि कोपमपायकारणं जहि प्रौढांगदमं मदोद्धतिम् ।

गजराज ! जहीहि मस्तरं त्वममैत्री च जहाहि देहिभिः ॥११॥

इसके सिवाय तुम्हें यह भी उचित है कि जीव का सर्वथा नाश-अहित करने वाले कोप को छोड़ो, प्रौढ अंगों की दमन करने वाली मदोन्मत्तता को तिलांजलि दे दो, दूसरों से ईर्ष्या करना छोड़ दो और समस्त प्राणियों के साथ शत्रुता करने से भी बाज आ जाओ, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करना प्रारंभ कर दो ।

यदि प्रियासाद्यदि नाशि यद्यत्तं गुणच्छिदे यद्युपापसंघये ।

अनात्मनीनं तत एव तर्हि तद् वृथैव धिग्धिगे विषयोन्मुखं सुखम् ॥७६॥

विषयजन्य सुख नष्ट हो जानेवाला है गुणों का नाश कर देता है, पश्चात्ताप कराता है और अत एव आत्माका वैरी है इसलिये उसे वार वार धिक्कार है ।

अविविच्य क्रिया नैव श्रेयसे बलिनामपि ।

गजोऽपि निपतेत् मते वृत्तस्तमसि चर्यया ॥८४॥

बिना सोचे समझे काम करने से बलशाली पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता, देखिये ! अधकार में चलने से हाथी गड्ढे में गिर पड़ता है ।

अशक्यवस्तुविषयः प्रत्यवायकृदुद्यमः ।

अंघ्रिणा क्रमतोऽप्यग्निमंघ्रिस्फोटः स्फुटायते ॥८५॥

अशक्य पदार्थ के विषय में किया गया परिश्रम अवश्य मतिहन हो जाता है जैसे कि अग्नि को पैर से कुटनेवाले पुरुष का पैर ही जलता है, अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ता ।

स्वैरमन्यदतिक्रम्य प्रवर्तेताखिलं बली ।

कालक्रमोपपन्ना तु नियतिः केन लंध्यते ॥८६॥

बलवान् पुरुष दूसरे पदार्थों पर इच्छानुसार विजय पा सकता है लेकिन कालक्रम से प्राप्त हुए भाग्य को कौन टाल सकता है ।

कवि की भाषा-शैली, अभिव्यक्ति-कौशल्य, अलंकारयोजना आदि नोंधपात्र है । इस से भी कवि-कौशल्य का परिचय मिलता है । भाषा में सहज प्रवाह और भावानुरूप परिवर्तित होने की क्षमता है । ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का

निदर्शन उसमें मिलता है। काव्य रचना के उपक्रम में कुछ अलंकार तो अपने आप आ जाते हैं।

रसनिरूपण :

शृंगार, वीर और शान्तरस का आलेखन यहाँ मुख्यतया हुआ है।

सर्ग ६में वीर और शृंगार का साथ साथ ही वर्णन है। युद्ध काल के वीरोचित प्रसंगों के आलेखन के बाद कविने योद्धाओं के साथ आयी हुई उनकी पत्नियों के साथ जो शृंगार क्रिडायें की थीं उनका मादक वर्णन यहाँ हुआ है। कविने प्रत्येक क्रीडाओं का और इस समय के स्त्रियों के मनोभावों का सूक्ष्म और अलंकारों से तादृश निरूपण किया है और प्राकृतिक सादृश्यों की भी सहाय्य ली है। स्त्रियों के अंगोपांगोंके चित्रण में भी शृंगार की झलक मिलती है। शान्तरस का आलेखन अत्याधिक प्रसंगों में है। फिर भी दूसरे और बारहवें सर्गों में पार्श्वनाथ भगवान के चरित्र चित्रण के प्रसंग में सहज रीति से शांत रस का प्रागट्य होता है और तीर्थंकर भगवान के प्रति भक्तिभाव, प्रागट्य करने में प्रेरणादायी बनता है।

छन्द का आयोजन :

महाकाव्य की शैली के अनुरूप प्रत्येक सर्ग की रचना अलग-अलग छन्द में की है और सर्गान्त में विविध छन्दों की योजना की है। पहले, सातवें और ग्यारहवें सर्गों में अनुष्टुप छन्द, शेष में दूसरे छन्दों का प्रयोग किया गया है। सप्तम सर्ग में व्यूहरचना के प्रसंग में मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक, गूढचतुर्थक, अक्षरच्युतक, अक्षरव्यत्यय, निरोष्ठय आदि का अनुष्टुप छन्दों में ही प्रदर्शन किया गया है। छठे सर्ग में विविध शब्दों की छटा द्रष्टव्य है।

इस काव्य की भाषा माधुर्यपूर्ण है। कवि का भाषा पर असाधारण अधिकार है। वह मनोरम कल्पनाओं को साकार करने में पूर्णतया समर्थ है। कविने भाव और भाषा को सजाने के लिये अलंकारों का प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रयोग अधिक हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यासादि का प्रयोग स्वाभाविक रूप से किया गया है।

अतः महाकाव्य के अनुरूप शैली में रचित यह कृति पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र और काव्यकला की दृष्टि से नोंधपात्र है।

मोक्ष चिन्तन का सैद्धांतिक पक्ष

धर्म के दो पक्ष हैं - विचार और आचार; सिद्धान्त और क्रिया-कर्म ।

आचार-दर्शनों में नैतिक जीवन का परम साध्य या परम श्रेय निर्वाण या आत्मा की उपलब्धि ही माना गया है । भारतीय परम्परा में मोक्ष, निर्वाण, परमात्मा की प्राप्ति आदि जीवन के चरम लक्ष्य या परम श्रेय के ही पर्यायवाची हैं । लेकिन हमें यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि भारतीय-परम्परा में मोक्ष या निर्वाण का तात्पर्य क्या है ? सामान्यतया मोक्ष या निर्वाण से हम किसी मरणोत्तर अवस्था की कल्पना करते हैं । लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है । जिसे सामान्यतया मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है, वह तो उसका मरणोत्तर परिणाम मात्र है जो कि हमें जीवन-मुक्ति के रूप में इसी जीवन में उपलब्ध हो जाता है । वस्तुतः नैतिक जीवन का साध्य यही जीवन-मुक्ति है, जिसे व्यक्ति को यहीं और इसी जगत् में प्राप्त करना है । लोकोत्तर मुक्ति तो इसका अनिवार्य परिणाम है जो कि शरीर के छूट जाने पर प्राप्त हो जाती है ।

निर्वाण यो मोक्ष भारतीय नैतिकता का परम श्रेय है । दुःख से विमुक्ति को ही नैतिक जीवन का साध्य बताया गया है और दुःखों से पूर्ण विमुक्ति को ही निर्वाण या मोक्ष कहा गया है । भारतीय आचारदर्शनों की दृष्टि में भौतिक एवं वस्तुगत सुख वास्तविक सुख नहीं हैं । सच्चा सुख वस्तुगत नहीं, अपितु आत्मगत है । उसकी उपलब्धि तृष्णा या आसक्ति के प्रहाण द्वारा सम्भव है । वीतराग, अनासक्त और वीतृष्ण होना उनकी दृष्टि वास्तविक सुख है - निर्वाण है और देह-क्षय है ।

इस तरह मोक्ष या मुक्ति के दो स्वरूप हैं - इस जीवन में ही प्राप्त होनेवाली मुक्ति - या निर्वाण - जिसका साधक अपने आप अनुभव करता है और दूसरी मरणोत्तर - जो जन्म-मृत्यु की परंपरा का क्षय सूचित करती है ।

इस दृष्टि से जैन परंपरा में मुक्ति के दो रूपों को भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष कहा है। रागद्वेषादि कषायों से मुक्त होना - यह भावमोक्ष है और द्रव्यमोक्ष का अर्थ निर्वाण या मरणोत्तर मुक्ति की प्राप्ति है।

बौद्ध परम्परा में इसे सोपाधिशेष निर्वाणधातु और अनुपाधिशेष निर्वाणधातु कहते हैं। सोपाधिशेष निर्वाण अर्थात् जो तृष्णा के क्षय से प्राप्त होती है और अनुपाधिशेष निर्वाण देहनाश के बाद प्राप्त होता है। गीता में उसका जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त रूप में वर्णन किया है।

मोक्ष के विषय में जब हम सोचते हैं - तब हमे आत्मवाद और कर्मसिद्धांत के बारे में सोचना पड़ेगा। क्योंकि कषायों के आवरण और शरीर के बन्धनों से जो मुक्त होता है वह आत्मा है और आत्मा का शरीर धारण करना - वह कर्मसिद्धांत पर आधारित है।

आत्मवाद :

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है और भावपक्ष की दृष्टि से अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। महावीर कहते हैं, 'हे जमाली, जीव शाश्वत है। तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली, जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यच होता है, तिर्यच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार इन नानावस्थाओं को प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता।'।

बौद्ध दर्शन आत्मा अनित्य या परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल देता है। बुद्ध ने अविच्छिन्न, परिवर्तनशीलचेतनाप्रवाह के रूप में आत्मा का स्वीकार किया है। वैदिक परंपरा में भी आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन हुआ है।

इसके साथ कर्मसिद्धांत और पुनर्जन्म का सिद्धांत भी जुड़ा हुआ है। प्रायः सभी दर्शन मानते हैं कि प्राणियों में क्षमता एवं धनसंपत्ति आदि की सुविधाओं का जो जन्मगत वैषम्य है उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्वजन्मों के कृत्य है। संक्षेप में वंशानुगत और नैसर्गिक पूर्वजन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का ही फल है। और इन कर्मों का प्रत्यय मनुष्य मन की रागद्वेषादि वृत्तियाँ हैं। इन सबके मूल में मिथ्यात्व,

अविद्या या मिथ्या दृष्टिकोण है जो मनुष्यों को कर्म के लिये प्रेरित करते हैं। कर्म बन्ध और उसके परिणामरूप आस्रव से प्राणी जन्म-मृत्यु की परंपरा को प्राप्त होता है। आत्मवाद संबंधी दार्शनिक भेद के होते हुए भी जैन, बुद्ध और वैदिक परंपरा का साधनामार्ग आस्रवक्षय के निमित्त ही है। सबकी दृष्टि में आस्रवक्षय ही निर्वाण प्राप्ति का प्रथम सोपान है। जैसे 'मिलिन्द प्रश्न' में राजा मिलिन्द के पूछने पर की पुनर्जन्म होगा या नहि होगा ? - आचार्य नागसेन बताते हैं कि - 'सचे महाराज सऽपादानो भविस्सामि, पटिसन्दहिस्सामि, सचे अनुपादानो भविस्सामि, न पटिसन्द हिस्सामि।' - तृष्णा के प्रत्यय से राग-द्वेष मोहादि का जो उपादान होता है - आस्रव होता है, उसके क्षय होने पर ही पुनर्जन्म की संभावना भी नष्ट होगी।

जैसे उत्तराध्ययन में कहा गया है -

छंदं निराहण उवइ मोक्खं ।

ईच्छाओं को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

जैसे जैन परंपरा में राग, द्वेष और मोह बन्धन के मूलभूत कारण माने गये हैं, वैसे ही बौद्ध परंपरा में लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन (कर्मों की उत्पत्ति) का कारण माना गया है। जो मूर्ख लोभ, द्वेष और मोह से प्रेरित होकर छोटा या बड़ा जो भी कर्म करता है, उसे उसी को भोगना पड़ता है, न कि दूसरे का किया हुआ। इसलिए बुद्धिमान् भिक्षु को चाहिए कि लोभ, द्वेष और मोह का त्याग कर एवं विद्या का लाभ कर सारी दुर्गतियों से मुक्त हो।

जैन दर्शन में मोक्ष मार्ग का अति सूक्ष्म रूप से प्ररूपण हुआ है। जैन दृष्टि के अनुसार - और अन्य दर्शन भी - अभिव्यक्ति की भिन्नता से अतिरिक्त - मानते हैं कि भव का कारण पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध है। जब कि संवर और निर्जरा मोक्ष के प्रत्यय हैं। कुंदकुंदाचार्यने पंचास्तिकाय (१२८-१३०) में इसका वर्णन किया है। संसारी जीव नाना विध कर्म करने के परिणाम स्वरूप देव-मनुष्य-तिर्यच-नारक आदि गति में गमन करता रहता है। इसकी वजह से देह धारण करता है। देह से इन्द्रिय, इन्द्रिय से विषयग्रहण, विषयग्रहण से रागद्वेष, रागद्वेष से पुनःस्निग्ध परिणाम - अर्थात् कर्मरज का आवरण, क्रमशः कर्म परंपरा और जन्म-मृत्यु का आवागमन होता रहता है। गौतम बुद्धने भी प्रतीत्य-समुत्पाद के रूप में हेतु-फल परंपरा का वर्णन क्रमशः - अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, और षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव और जाति-जरा-मरण-शोक-के रूप में किया है। तत्त्वतः दोनों का इंगित समान ही है। और वह हेतु-फल परंपरा की शृंखला को

समाप्त करने से - निरोध करने से निर्वाण लाभ होता है ।

कुंदकुंदाचार्यने मोक्षमार्ग में बाधक बननेवाला पापास्रव का विशद निरूपण किया है । (१३१-१४१) कार्य में प्रमाद, चित्त की क्लुषित अवस्था, विषयों के प्रति तीव्र आसक्ति, अन्य को पीड़ित करना या दोष देना - ये सब पापास्रव के हेतुरूप हैं । तीव्र मोह से उत्पन्न होनेवाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह - ये चार संज्ञायें, कषाय से उत्पन्न कृष्ण, नील, कपोत - ये अशुभ लेश्याओं की रागद्वेषजनित इन्द्रियपशता; आर्द्र और रौद्र ध्यान, अशुभ कार्यों से युक्त ज्ञान-दर्शन और चारित्र; मोहनीय से उत्पन्न मोह - यह भाव पापास्रव है । पौद्गलिक कर्मों की वजह से होनेवाले द्रव्य पापास्रव में यह भाव-पापास्रव निमित्त बनता है । इन्द्रियो, कषायो और संज्ञाओं का यथाशक्य निग्रह पापास्रव का निग्रह करता है ।

पुण्यास्रव के बारे में भी सोचना होगा । पुण्योपार्जन की क्रियायें अब अनासक्त भाव से की जाती हैं, तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन सकती हैं । पुण्य कार्य भी आसक्तिरहित होकर, निर्लेप भाव से करना चाहिये, तभी वह मोक्ष या निर्वाण में सहस्यक बन सकता है ।

यहीं गीता का अनासक्त योग भी चिंतनीय है और बुद्ध ने भी दृष्टांत द्वारा यही बात कही है - 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरिक कमल पानी से लिस नहीं होता उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों से निर्लेप होना चाहिये, दोनों से उपर उठना चाहिये ।'

इस तरह आस्रव, संवर, निर्जरा आदि से कर्मों का पूर्णतः क्षय होता है, तब कर्मों के अभाव से आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में परिणत होता है । भावकर्म का सर्वथा क्षय होना भावमोक्ष है और पौद्गलिक कर्मों का क्षय होना - द्रव्य मोक्ष है । मोक्ष की इस अवस्था में जीव इन्द्रियरहित, अव्याबाध और अनंत सुख को प्राप्त करता है और भवत्याग करता है ।

द्रव्यसंग्रह में भी निश्चय और व्यवहार मार्ग की दृष्टि से मोक्षमार्ग की व्याख्या इस तरह दी गई है -

सम्महंसणणाणं चरणं मुखस्स कारणं जाणे ।

ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

रणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियमिह् ।

तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुखस्स कारणं आदा ॥४०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो । तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

चारित्र्य स्वरूप जो निज आत्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो ॥३९॥

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥४०॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।

यहाँ निश्चय नय और व्यवहार नय से मोक्ष की व्याख्या दी गई है । श्री वीतराग सर्वज्ञ से कहे हुए षडद्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ हैं । इनमें श्रद्धा रखना और व्रतादि का आचरण करना- इत्यादि जो है सो तो व्यवहार मोक्षमार्ग है और निश्चय नय से रत्नत्रयमय निजशुद्ध आत्मा ही मोक्षरूप है । इसके लिये ध्यानमार्ग का अनुसरण भी आवश्यक है । द्रव्यसंग्रहकार कहते हैं - 'मा मुञ्जह मा रज्जह मा दूसह' - समस्त मोह, राग और द्वेषों से रहित होकर स्थिर चित्त से ध्यान में स्थित होकर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार रूप अनुभव कर सकता है । मोक्ष शब्द मुञ्च धातु से बनता है । मोक्ष का अर्थ है मुक्त होना । जीव का कर्मबन्ध से मुक्त होना मोक्ष है । शुद्धोपयोग लक्षण जो भावमोक्ष का स्वरूप है और कर्म के प्रदेशों को जुदा करने रूप द्रव्यमोक्ष का स्वरूप है वह वास्तव में जीव का स्वभाव नहीं है । किन्तु उन भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष से भिन्न जो फलभूत ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है । और आत्मा का यह निज शुद्ध स्वरूप कर्मबन्ध के आस्रव का संवर और निर्जरा द्वारा क्षय करने पर, मोक्षरूप में प्रगट होता है । कर्मबन्धन छूट जाता है । वस्तुतः मोक्ष तो बन्धन का अभाव ही है ।

बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्यायदृष्टि का विषय है । आत्मा का विरूप पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है । पर-पदार्थ या पुद्गल परमाणुओं के निमित्त से आत्मा में जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जिसके कारण 'पर' में आत्मभाव (मेरापन) उत्पन्न होता है, वही विरूपपर्याय है, परपरिणति है, 'स्व' की 'पर' में अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है । बन्धन और मुक्ति दोनों आत्मा-द्रव्य या चेतना की ही दो अवस्थाएँ हैं ।

जैन तत्त्व-मीमांसा के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्ष शुद्धावस्था होती है, वह मोक्ष है । कर्ममलों के अभाव में कर्म बन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है । मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है । अनात्मा में ममत्व, आसक्तिरूप आत्माभिमान का दूर हो जाना ही मुक्ति है ।

शब्दसूचि

अकुशल १७	आचार्य महाप्रज्ञजी ६३
अक्रियावाद २०	आत्मभाव ८
अचौर्य ५७	आत्मवाद १३
अणुव्रत ६६	आत्मा २२
अध्यात्म ५८	आनंद ५१
अनंतकर्मि मुनि १०६	आभ्यंतर तप ८९
अनशन ९०	आयतन २१
अनात्म १२२	आर्य ४
अनासक्त ५	आर्य अष्टांगिक मार्ग २१
अनुपाधिशेष ११९	आसक्ति १२२
अनुलोम ३०	आस्रव १२१
अन्योन्यवाद २०	आस्रव १७
अपरिग्रह ५७	इर्ष्या ९
अप्रतिसंख्यानिरोध ३३	ईश्वर १२
अभिमान ९	ईश्वरवाद १३
अविद्या १४	उच्छेदवाद १३
अवेर ४	उच्छेदवाद २०
अवैदिक २०	उत्तराध्ययन सूत्र ८९
असंयत १	उनोदरी ९०
असंस्कृत ३३	उपघातक १५
असद १३	उपपीलक १५
अस्तेय १३	उपस्थम्भक १५
अहं ९	उपादान १४
अहिंसा १, ३, ६	उपासकदशांगसूत्र ६८
आख्यानमणिकोष ९५	उपेक्षा ४९
आचारसंहिता १	करुणा १, ४९
आचारांग ६६	कर्म १२

कर्मविपाक १७	तत्त्वमीमांसा २९
कर्मसिद्धान्त १२	तपश्चर्या २
कर्मादान ६८	तितिक्षा ७४
कवि धनंजय १०६	तृष्णा ९
कषाय ६	दंडी १०७
कषायों १	दशवैकालिकसूत्र ७१
कायक्लेश ९०	दुःख २३
कार्यकारण ३१	दुःखनिरोध ४
कुंदकुंदाचार्य १२०	द्रव्य १२२
कुशल १७	द्रव्यमन ८७
कृष्ण ५६	द्रव्यसंग्रह १२१
क्रियमाण १६	धम्मपद ५
क्रोध ९	धर्मशासन १
चारित्रधर्म ६६	धातु २१
चार्वाक २०	ध्यान ९०
चित्तविप्रयुक्त ३४	नागसेन १२०
चित्तसन्तति २७	नामरूप १४
चेतना १५	नायाधम्मकहा ९३
चेतयित्वा १५	नियतिवाद १३, २०
चैतसिक १६	निरास्रव १७
जनक १५	निर्जरा १२१
जरा २३	निर्वाण १२
जाति २३	निर्वाणप्राप्ति १२
जिनसेन स्वामी १०६	निष्काम १८
जैन २०	पंचास्तिकाय १२०
जैनदर्शन ६७	परिग्रह ७२
गाणपंचमीकहा ९४	पर्यावरण १, ६
तत्त्वचिंतन २१	पाचित्तिय २
तत्त्वदर्शन २०	पारमिता ४८

पाराजिक ३	महाव्रत ६६
पार्श्वनाथचरित १०२	माध्यमिक २६
पुनर्जन्म १३	मिथ्याचार ५
प्रज्ञा ४१	मिलिन्द्रपश्न १२०
प्रतिलोम ३०	मुक्ति १२२
प्रतिसंख्यानिरोध ३३	मुदिता ४९
प्रतिसंलीनता ९०	मृषावाद ५
प्रतीत्य समुत्पाद १४	मैत्री १, ४९
प्रतीत्यसमुत्पन्न १३	मोक्ष ११८
प्रारब्ध १६	मोक्षमार्ग १२२
बुद्ध ५६	यशोधरा ४६
बुद्धघोष ४०	योगविज्ञान ६२
बौद्ध १	योगाचार २६
बौद्धदर्शन २०	रत्नत्रय १२२
बौद्धधर्म १२	रस-परित्याग ९०
ब्रह्मचर्य ५७	रुद्रट १०७
ब्राह्मण १३	रूप २१
भव २३	लेश्या ९२
भावमन ८७	लोभ ९
भामह १०७	वादिराजसूरि १०२
मन ८६	विज्ञान २३
मनोविज्ञान ६०	विज्ञानकाय १३
मनोवैज्ञानिक ८६	विद्यानंद स्वामी १०६
मरण २३	विशुद्धिमग्ग ४०
महाप्रजापति गौतमी ५१	विश्वनाथ १०७
महाभारत-शांतिपर्व ८१	विषयगत ३१
महाभिनिष्क्रमण ४६	विषयभोग ९
महायान २६	विषयिगत ३१
महावीर स्वामी ७८	वीरनंदि स्वामी १०६

वृत्तिसंक्षेप १०	सत्य २६
वैदिक २०	सदाचार ५६
वैभाषिक २६	सद् १३
वैश्विक १	सन्तति २२
शरीरविज्ञान ६०	सन्मति १०६
शाश्वतवाद १३	समंतभद्र १०६
शील ४१	समाधि ४१
शून्य २७	समुत्पाद ३०
शून्यवाद २६	सम्यकत्व ५
शोक २३	सम्यग् चारित्र १२१
श्रद्धा १३	सम्यग् ज्ञान १२१
श्रावस्ती ४२	सम्यग् दर्शन १२१
श्रीकृष्ण ८०	सर्वसिद्धान्तसंग्रह ३६
श्रीमद् भगवद् गीता १८	साक्षत्कार १३
श्रुतिधर्म ६६	सामाजिक २०
षडायतन १४	सिद्धार्थ ४६
संचित १६	सोपाधिशेष ११९
संप्रदाय २६	सौत्रान्तिक २६
संयुक्तनिकाय ५	स्कंधसमूह १७
संवर १२१	स्पर्श २३
संस्कार २१	हीनयान २६
संस्कृत ३३	हेमचंद्राचार्य १०७
सत्ता २६, २७	क्षणभंगवाद २७

લેખકના અન્ય પ્રકાશન

૧. અર્વાચીન કવિતામાં વ્યક્ત થતો ભક્તિનો ઉન્મેષ (વિવેચન) ઈ.સ. ૧૯૮૪
૨. કવિ સહજસુંદરની રાસકૃતિઓ (પ્રાચીન મૂળ હસ્તપ્રતોને આધારે સંપાદન અને સમીક્ષા) ઈ.સ. ૧૯૮૯

ડૉ. હરિવલ્લભ ભાયાણીના માર્ગદર્શનમાં સંપાદિત પુસ્તકો

૩. પદસૂચિ, ઈ.સ. ૧૯૯૦
૪. દેશીસૂચિ, ઈ.સ. ૧૯૯૧
૫. પાંડવલા, ઈ.સ. ૧૯૯૧
૬. કૃષ્ણચરિત્ર, ઈ.સ. ૧૯૯૨

સંસ્કારપ્રેરક બાળસાહિત્ય

૭. અડવો રે અડવો (બાળનાટક), ઈ.સ. ૧૯૮૯
૮. પહેલું કોણ? (બાળનાટકો), ઈ.સ. ૧૯૯૦
૯. મહાભારતનાં પાત્રો (બાળવાર્તા રૂપે), ઈ.સ. ૧૯૯૦

પાલિ અને પ્રાકૃત ભાષામાંથી અનુવાદિત (સમીક્ષા સાથે) પુસ્તકો

૧૦. શ્રી પંચાસ્તિકાય સંગ્રહ, ઈ.સ. ૧૯૯૯
૧૧. દ્રવ્યસંગ્રહ, ઈ.સ. ૧૯૯૮
૧૨. ભિક્ષુપાતિમોકખ (ડૉ. મધુબેન સેન સાથે)
૧૩. મજ્જિમનિકાય : સમીક્ષાત્મક અધ્યયન, ઈ.સ. ૨૦૦૧
૧૪. બૌદ્ધદર્શન અને સંસ્કૃતિની પરંપરા, ઈ.સ. ૨૦૦૪
૧૫. ભવિસ્સયત્ત કહા, ઈ.સ. ૨૦૦૩
૧૬. થેરીગાથા, ઈ.સ. ૨૦૦૭
૧૭. મેરુસુંદરકૃત ષડાવશ્યક બાલાવબોધ, ૨૦૦૬
૧૮. હસ્તપ્રતવિદ્યા અને આગમસાહિત્ય : સંશોધન અને સંપાદન, ઈ.સ. ૨૦૦૧

અન્ય

૧૯. (વિશ્વનાથ જાનીકૃત) પ્રેમપત્રીસી : સંપાદન અને સમીક્ષા, ઈ.સ. ૨૦૦૨
૨૦. જૈન શબ્દાવલી (અન્ય સાથે), ઈ.સ. ૨૦૦૦
૨૧. ગુજરાતી સાહિત્યકોશ (મધ્યકાલીન), સહાયક સંપા., ગુજરાત સાહિત્ય પરિષદ દ્વારા પ્રકાશિત
૨૨. ગુજરાતી સાહિત્યકોશ (અર્વાચીન), સહાયક સંપા., ગુજરાત સાહિત્ય પરિષદ દ્વારા પ્રકાશિત.